पुस्तक प्राप्ति स्थान

(१) श्री अशोक भाई नत्थुसा सर्राफ मलकापुरवाले
चिद्रूप निलयम, नये जैन मन्दिर के सामने, रामकृष्णगंज
खंडवा (म० प्र०)

(२) श्री प्रमोदकुमार केशरीचन्द जैन
रत्नत्रय ज्वेलर्स, १०० हाटकेश्वर वार्ड
खंडवा (म० प्र०) ४५०००१



प्रथमावृत्ति—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था
कलकत्ता, वीर नि० सं० २४४३

द्वितीयावृत्ति—श्री सेठ माणिकचन्दजी मगनीरामजी
सरस्वती भवन, इन्दौर, वीर नि० सं० २४७३

तृतीयावृत्ति—अपर ग्रन्थमाला, उदासीन आश्रम
इन्दौर, वीर नि० सं० २४८०

चतुर्थावृत्ति—११०० प्रतियां, श्री वीतराग विज्ञान प्रकाशिनी ग्रन्थमाला
खंडवा
एवं
५०० प्रतियां, श्री दि० जैन सत् साहित्य प्रसारक मंडल
खंडवा, वीर नि० सं० २५००

पंचमावृत्ति—३००० प्रतियां—श्री कहान सत् साहित्य प्रसारक मंडल,
खंडवा, वीर नि० सं० २५१०



मुद्रक :
पांचूलाल जैन
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)

प्रकाशकीय निवेदन

दिगम्बर जैन साहित्य का अनुपम भडार सस्कृत तथा प्राकृत भाषा मे पुष्कल परिमाण मे सुप्राप्य है। भट्टारक श्री ज्ञानभूषणजी कृत परम अध्यात्म रसपूर्ण अक्षर देह यह ग्रन्थ उसी भण्डार का एक उज्ज्वल रत्न है।

इस ग्रन्थ की निरन्तर माग होती जा रही है और ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण अध्यात्म रसिक ब्र० पडित श्री रमेश भाई की प्रेरणा के फलस्वरूप श्री कहान सत् साहित्य प्रसारक मडल खडवा द्वारा पचम आवृत्ति प्रकाशित करके मुमुक्षुओ के समक्ष रखने की भावना पूर्ण हो रही है।

आज हम पतन के गहरे गर्त मे पड़े हुये, जब कभी अपनी सस्कृति की पृष्ठ-भूमि के महत् गौरव की उत्तु ग-शृग श्रेणियो पर दृष्टि-पात करते हैं, तो उसकी जाज्वल्य-मान पु जीभूत ज्योति की चकाचौंध से हमारे नेत्र भिच से जाते हैं, परन्तु हमारी वर्तमान परिस्थिति कितनी दयनीय एव क्षोभजनक हो रही है इसका हमे उपाभास तक नही, हम मोह की गाफिल निंद्रा मे मदहोश हो गये हैं, इस मधुर मूर्च्छना मे हमने अपना अस्तित्व तक विलीन कर दिया है ऐसे युग मे भी हम सबका महान् पुण्योदय है कि आज हमारे पास उस तन्द्रा को भग करने के लिये अध्यात्म का एक अमूल्य ग्रन्थ रत्न "तत्वज्ञान तरगिणी" विद्यमान है।

प्रत्यक्ष परम उपकारी पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने इस ग्रन्थ पर कई वर्ष पहले अध्यात्मपूर्ण प्रवचन किये थे, उनकी भवताप नाशक वाणी के प्रताप से लाखो दिगम्बर जैन भाई बहिनो ने दिगम्बर जिनधर्म का सच्चा स्वरूप पहिचाना, हजारो श्वेताम्बर भाईयो ने भी दिगम्बर जिनधर्म को स्वीकार किया है। पूज्य श्री स्वामीजी इस ग्रन्थ की बारम्बार महिमा गाते हुये कहते थे कि "भाई आ तो नानू समयसार छे"।

卐 जैनं जयतु शासनम् 卐

धन्य-धन्य कहान गुरुवर, शरण तुम्हारी आए।
परमागम का मन्थन करके, शिवपुर पथ को पाए॥

भारतीय [illegible] दर्शन केन्द्र
जयपुर

छोड़ देना चाहिये और जो उसकी प्राप्तिमे हितकारी हो उसका बडे प्रयत्नसे आश्रय करना चाहिये ।

भावार्थ.—कोई कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (परिणाम) ऐसे आकर उपस्थित हो जाते है कि शुद्धचिद्रूपके स्मरणमे विघ्नकारक बन जाते हैं, इसलिये विद्वानो को चाहिये कि इसप्रकारके पदार्थोका सर्वथा त्याग कर दें, परन्तु बहुतसे द्रव्य क्षेत्र आदि शुद्धचिद्रूपके स्मरण मे अनुकूल हितकारी भी होते हैं, इसलिये उनका कडी रीतिसे आश्रय ले ॥४॥

संगं विमुच्य विजने वसंति गिरिगह्वरे ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र निःस्पृहाः ॥५॥

अर्थ.—जो मनुष्य ज्ञानी हैं, वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति के लिये अन्य समस्त पदार्थोमे सर्वथा निस्पृह हो समस्त परिग्रहका त्याग कर देते हैं और एकान्त स्थान पर्वतकी गुफाओमे जाकर रहते हैं ॥५॥

स्वल्पकार्यकृतौ चिंता महावज्रायते ध्रुवं ।
मुनीनां शुद्धचिद्रूपध्यानपर्वत भजने ॥६॥

अर्थ.—जिसप्रकार वज्र, पर्वतको चूर्ण चूर्ण कर देता है उसी प्रकार जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपकी चिन्ता करने वाला है, वह यदि अन्य किसी थोडेसे भी कार्यके लिये जरा भी चिन्ता कर बैठता है तो शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे सर्वथा विचलित हो जाता है ।

भावार्थ.—शुद्धचिद्रूपका ध्यान उसी समय हो सकता

तत्त्वज्ञान तरंगिणी :



स्व० श्री ब्रजलाल मगनलाल शाह
जलगांव

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत् ।
निराकुलत्वत. शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं ॥१९॥

अर्थ.—इन्द्रियोके विषय भोगनेमे जीवोका चित्त सदा व्याकुल बना रहता है, इसलिये उन्हे अनत क्लेश भोगने पड़ते हैं। शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेमे किसी प्रकारकी आकुलता नही होती, इसलिये उसकी प्राप्तिसे जीवोका परम कल्याण होता है ॥१९॥

रागद्वेषादिज दुःखं शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ।
याति तच्चिंतनं न स्याद् यतस्तद्गमनं विना ॥२०॥

अर्थः—राग-द्वेष आदिके कारणसे जीवोको अनेक प्रकारके दु ख भोगने पडते हैं; परन्तु शुद्धचिद्रूपका स्मरण करते ही वे पलभरमे नष्ट हो जाते हैं—ठहर नही सकते; क्योकि बिना रागादिके दूर हुये शुद्धचिद्रूपका ध्यान ही नही हो सकता ॥२०॥

आनंदो जायतेत्यंतः शुद्धचिद्रूपचिंतने ।
निराकुलत्वरूपो हि सतां यत्तन्मयोऽस्त्यसौ ॥२१॥

अर्थः—निराकुलतारूप (किसी प्रकारकी आकुलता न होना) आनंद है और इस आनदकी प्राप्ति सज्जनोको शुद्ध-चिद्रूपके ध्यानसे ही हो सकती है; क्योकि यह शुद्धचिद्रूप आनंदमय है—आनंद पदार्थ इससे जुदा नही है ॥२१॥

तं स्मरन् लभते ना तमन्यदन्यच्च केवलं ।
याति यस्य पथा पांथस्तदेव लभते पुरं ॥२२॥

स्व० श्री ब्रजलाल शाह के प्रति

"स्मरणांजलि"

पूज्य सद् गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सदुपदेश से प्रभावित होकर हमारे समस्त परिवार को शुद्धात्मा की रुचि जागृत हुई है। पूज्य गुरुदेव निरन्तर कहते थे कि इस जीव को शुद्धात्मा की धुन लगनी चाहिये .. .धुन, तभी इसका कार्य हो ऐसा है, सो यह ग्रन्थ धुन लगाने के लिये अति उत्तम है, मेरे पिताश्री व्रजलाल मगनलालजी भी इस ग्रन्थ का निरन्तर स्वाध्याय, चितवन, मनन, किया करते थे, उन्हे इस ग्रन्थ का बहुत ही बहुमान था। हम सभी को इसके स्वाध्याय, चितवन, मनन की खूब प्रेरणा देते थे। इस ग्रन्थ का खूब-खूब प्रचार हो ऐसी उनकी खूब भावना थी, क्योकि अत्यन्त सरल भाषा मे अनेक रोचक उदाहरण देकर सर्वोत्कृष्ट ऐसे निज शुद्धात्मा के स्वरूप को समझाकर इसकी प्राप्ति के लिये उत्साह, प्रीति व। अपूर्व वर्णन किया है। स्वाध्याय प्रेमी स्वयं ही इस शास्त्र की महिमा को जानेंगे। इस शास्त्र की महिमा गाने के लिये मेरे पास शब्द नही हैं। इस शास्त्र का खूब-खूब प्रचार हो व सभी को शुद्धात्मा की धुन जागृत होकर साक्षात् शुद्धात्मा की प्राप्ति हो।

आपके प्रति अति अनुराग के कारण आपकी स्मृति मे रु० ५०००) की राशि इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये भेंट करते हैं, और भावना भाते हैं कि आप जहाँ हो वहाँ देव-गुरु-धर्म के शरण मे शीघ्र आत्म हित प्राप्त करें और इस असार संसार से छूटकर अविनाशी मोक्ष सुख प्राप्त करें।

आपके स्वजन—

ब्र० हर्षाबेन, अनंतराय, रमेशचन्द, नरेन्द्र

(जलगाव)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६३	४	–गतिवद्द्रव्यस्य-पर्यायवत्	–गतिवद् द्रव्यस्य पर्यायवत्
६४	१३	विद्याविज्ञान	विद्याविज्ञान
६८	३	निवृंति	निवृंति
६८	१६	विरचिताना	विरचिताया
७३	४	भक्तवृंदैर्न	भक्तवृन्दैर्न
७६	१४	पश्चाच्चनिश्चय	पश्चाच्च निश्चय
७८	७	व्यवहारक्वचिन्नय	व्यवहार क्वचिन्नय
८०	२०	जलवत्कर्दमात्केकि-	जलवत्कर्दमात्केकि-
८२	१	कारकादीनी	कारकादीनि
८२	२४	पिवति	पिबति
८३	३	बुद्धिमान	बुद्धिमान्
८३	१९	हो	हो
८५	७	दुष्प्राप्य	दुष्प्राप्य
८५	२२	किसो	किसी
८७	२३	खोज	पता
९०	७	भवेद्देवाधिदेवोपि	भवेद्देवाधिदेवोऽपि
९२	७	मिथ्यामतिमम	मिथ्यामतिर्मम
९७	८	कुर्वंतु	कुर्वन्तु
१०१	६	विद्वान	विद्वान्
१०१	१५	कुवे	कुर्वे
१०३	१२	मद्विऽजोह	मद्विजोऽहं
१०४	२	सशय:	संशय
१०५	१५	विद्वान	विद्वान्
१०७	१	तपोपि	तपोऽपि
१०७	२	धर्मोऽप	धर्मोऽपि
१०८	२	वान	वान्
११०	१६	बहुतमे	बहुतसे
१११	१	तपस्विनोपि	तपस्विनोऽपि

इस ग्रन्थ के प्रत्येक श्लोक को पढते ही हृदय मारे आनद के गद्‌गद् हो जाता है और चित्त सब ओर से हटकर इसमे लीन हो जाता है।

आचार्य श्री ने अट्‌ठारह अध्यायो के माध्यम से ५३६ श्लोको में एक "शुद्ध चिद्रूप" को ही घुटाया है जिसे कि हम अनादि काल से भूले हुये हैं।

इस ग्रन्थ का सागोपाग परिचय तो इसके पठन-पाठन एव मनन से ही होगा फिर इसका विषय मुख्यत परम शुद्धनय का विषयभूत शुद्धात्म तत्व ही है।

यह ग्रन्थ ज्ञान का रत्नाकर है, निज स्वरूप को देखने का दर्पण है ग्रन्थकर्त्ता ने अपने अथक प्रयास से ग्रन्थ की रचना पुराणो से भी अधिक रोचक एव सरल बना दी है। हम इस मौलिक आध्यात्मिक ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रेरणा मे उस आध्यात्मिक व्यक्तित्व के धनी को नही भुला सकते जिन्होने स्वय इस ग्रन्थ का अध्ययन, मनन, चिंतन एव रसास्वादन अपनी बाल वय से ही किया है एव हमे भी इस ग्रन्थ के रसास्वादन की प्रेरणा प्रदान की है। ऐसे हमारे मुमुक्षु शिरोमणि आत्मार्थी ब्र० प० रमेश भाई जी मलकापुर वालो का खडवा मुमुक्षु समाज पर महान उपकार है, और वे ग्रन्थ प्रकाशन के मूल स्रोत हैं।

"न हि ज्ञानेन सदृश पवित्र इह विद्यते" ज्ञान के सदृश पवित्र, कल्याणकारक, सुखदायक अन्य कोई वस्तु नही है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन करने के लिये स्व० श्री सेठ बृजलालजी मगनलालजी शाह जलगाव के कुटुम्बीजनो की तरफ से उनकी स्मृति हेतु ५०००) रु० की राशि का आर्थिक सहयोग मिला है, जिससे यह कार्य इतना शीघ्र सम्पन्न हो सका है, हम उनके [illegible] । यद्यपि

इस ग्रन्थ की लागत मूल्य लगभग ६) रु० है तथापि इस सुन्दरतम ग्रन्थ द्वारा अधिक से अधिक तत्व प्रचार हो, इस पवित्र भावना को ध्यान मे रखते हुये इसका मूल्य कम करने के लिये हमे जिन भी महानुभावो ने आर्थिक सहयोग दिया है उनके भी हम हृदय से आभारी हैं (इनकी नामावली ग्रन्थ के पीछे दी गई है) कमल प्रिन्टर्स के सचालक श्री पान्नालालजी जैन ने पूरी सावधानी के साथ सुन्दर ढग से इस ग्रन्थ का मुद्रण कार्य किया है, जिसके लिये हम उनका भी आभार मानते हैं।

इस प्रकार यह अपूर्व ग्रन्थ प्रकाशन करने मे हमे अत्यन्त हर्ष हो रहा है आशा है आत्मार्थीजन, इस ग्रन्थ के अध्ययन एव चितन मनन से स्व पर कल्याण के निमित्त निरन्तर प्रयत्नशील होकर भव शृ खला विच्छेद मे उद्यमी होगे—यही भावना है।

खडवा
श्रुत पचमी
मिती ज्येष्ठ शुक्ला ५
विक्रम स० २०४१

निवेदक :
श्री कहान सत् साहित्य प्रसारक मंडल, खंडवा



प्रस्तावना

तत्व रसिक पाठक वृन्द ! आज हम अध्यात्म ज्ञान की ओर झुकाने वाले एक अपूर्व ग्रन्थ को आपके कर कमलो मे समर्पित करने के लिये तत्पर हुये हैं। इस ग्रन्थ का अश्रुत पूर्व नाम "तत्वज्ञान तरंगिणी" है। यह नाम अपने आपमे सार्थक और अनुपम है। जिस प्रकार नदी मे पानी आते ही उसमें तरगें उठती हैं, उसी प्रकार इस शरीर मे रहने वाले चैतन्यमूर्ति आत्मा मे ज्ञान की तरगें उठती हैं। ग्रन्थ कर्त्ता भट्टारक ज्ञानभूषणजी महाराज ने जब इस ग्रन्थ को रचकर उसका नामकरण किया तब आपने निज ज्ञानमयी आत्म तत्व सरोवर मे उठती हुई अतीन्द्रिय आनंद तरंगों का रसास्वादन निश्चित ही किया है। इसी कारण उसी सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान की पुरजोर तरंगो को ग्रन्थ मे आपने बड़े ही व्यवस्थित ढग से अवतरित किया है।

इस ग्रन्थ मे अट्ठारह अध्याय हैं और उसमे बड़ी स्पष्टता से शुद्धचिद्रूप का वर्णन किया है। आत्मा अनादिका है, उसमे शुभ-अशुभ भावो की जो तरंगें उठती हैं वह विकार है। देह से रहित भिन्न चैतन्य स्वरूप आत्मा अनादि है। वह कायम रहकर अलग अलग अवस्था धारण करता है। इस ग्रन्थ मे प्रथम ग्रन्थकार ने ज्ञान आनद स्वरूप आत्म तत्व को नमस्कार किया है। वे कहते हैं कि परमात्म पद मेरे मे है उसको मैं नमता हूं। यह आत्मा, शरीर, पुण्य पाप से पार है। जीव जब तक ऐसी प्रतीति नहीं करता है तबतक उसकी बहिर्दृष्टि छूटती नही है। पुण्य और पाप दोनों ही बेड़ी हैं। अज्ञानी उसमे आनन्द मानता है, किन्तु आत्मा आनन्दस्वरूप है उसे नही देखता। ग्रन्थकार ने इसलिये ज्ञान आनन्द स्वरुपी आत्मा को नमस्कार किया है। प्रथम गाथा में

शास्त्रकार कहते हैं कि मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का अर्थी हूँ, इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये उसका वर्णन करता हूँ ।

आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप तत्व है, वही जगत मे उत्तम है उसको जाने बिना जीव पाप मे कि पुण्य मे अटक गया है । चैतन्यस्वरूप आत्मा की समझ करना ही जीव का प्रथम मे प्रथम कर्त्तव्य है ।

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे "शुद्ध चिद्रूप" सज्ञा के द्वारा शुद्ध आत्म तत्व कैसा है, उसके स्वरूप को भली भाति प्ररूपित किया है । पश्चात् सत्रह अध्यायो मे उस परम तत्व की प्राप्तिका उपाय बडे ही सचोट उदाहरणो द्वारा तथा आर्ष परम्परानुकूल सैद्धान्तिक सामजस्यता को यथानुरूप रखते हुये ५३६ श्लोको मे ऐसे सुन्दर क्रम से रखा है कि वर्तमान इस निकृष्ट काल मे भव्यजीव निज परम उत्कृष्ट शुद्ध चिद्रूप को अल्प पुरुषार्थ से भी समझ सकता है, उसमे समा सकता है ! परम वीतराग निर्विकल्प स्वसवेदन समाधि का रस चख सकता है, कृतकृत्य हो सकता है ! इस ग्रन्थ मे श्री गुरु ने बारम्बार प्रेरणा दी है कि हे भाई तू तेरे "शुद्ध चिद्रूप" को प्रथम जान अर्थात् निज आत्म वस्तु को सर्व अपेक्षाओ से जानकर पश्चात् उसीका ध्यान कर ! इसके अलावा आत्म तत्व अर्थात् "शुद्धचिद्रूप" की प्राप्ति का अन्य कोई उपाय नही है । आचार्यकल्प प० प्रवर टोडरमलजी भी प्रसिद्ध ग्रन्थ "मोक्षमार्गप्रकाशक" मे उसी प्रकार शिष्यो को उपदेश करते हैं कि हे भाई ध्यान से उत्तम धर्म का कोई अग नहीं है इसलिये तुम निरन्तर आगम अभ्यास मे ही प्रवृत्तो, तुम्हारा कल्याण होगा ।

श्रीमद् भट्टारक ज्ञानभूषण महाराज हमे और क्या देना चाहते हैं उसकी झलक हमे निम्न श्लोको से स्पष्ट मिलती है ।. . ... प्रथम अध्याय के १० वें श्लोक मे कहते हैं ।

ज्ञेयो दृश्योऽपि चिद्रूपो ज्ञाता दृष्टा स्वभावतः ।
न तथाऽन्यानि द्रव्याणि तस्माद् द्रव्योत्तमोऽस्ति सः ॥१०॥

अर्थ :—यद्यपि यह चिद्रूप, ज्ञेय-ज्ञानका विषय, दृश्य-दर्शन का विषय है । तथापि स्वभाव से ही यह पदार्थों का जानने और देखने वाला है, परन्तु अन्य कोई पदार्थ ऐसा नही जो ज्ञेय और दृश्य होने पर जानने देखने वाला हो, इसलिये यह चिद्रूप समस्त द्रव्यो में उत्तम है ।

अष्टम अध्याय के २२ वें श्लोक मे कहते हैं :—

भेदज्ञानबलात् शुद्धचिद्रूपं प्राप्य केवली ।
भवेद्देवाधिदेवोपि तीर्थंकर्त्ता जिनेश्वरः ॥२२॥

अर्थ.—इसी भेद विज्ञान के बल से यह आत्मा शुद्धचिद्रूप को प्राप्तकर केवलज्ञानी, तीर्थंकर और जिनेश्वर कहलाने लगता है ।

इसी प्रकार बारहवें अध्याय के द्वितीय श्लोक मे कहते हैं—

विना रत्नत्रयं शुद्धचिद्रूपं न प्रपन्नवान् ।
कदापि कोऽपि केनापि प्रकारेण नरः क्वचित् ॥२॥

अर्थ।—बिना रत्नत्रय को प्राप्त किये आजतक किसी मनुष्य ने कही और कभी भी किसी दूसरे उपाय से शुद्धचिद्रूप को प्राप्त न किया । सभी ने पहिले रत्नत्रय को पाकर ही शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति की है ।

इस प्रकार ग्रथ में ५३६ श्लोक हैं, जो सर्व ही पठनीय चिन्तनीय एव मननीय हैं । हमारी आत्मोन्नति मे असाधरण रूप से निमित्त कारण हैं । श्रीमान् पूज्य भट्टारक ज्ञानभूषण महाराज ग्रंथ के पूर्ण होने पर बड़े ही निस्पृह भाव से अपनी गुरु परम्परा का विनय कर उनका उपकार मान उन्हें स्मरण करते हैं ।

जात: श्री सकलादि कीर्ति मुनिप: श्री मूलसघेऽग्रणी-
स्तत्पट्टोदयपर्वते रविरभूद् भव्याबुजानदकृत् ।
विख्यातो भुवनादिकीर्तिरथ यस्तत्पादकजे रत-
स्तत्त्वज्ञानतरगिणी स कृत वानेता हि चिद्भूषण. ॥

अर्थात्—मूलसघ के आचार्यों मे अग्रणी सर्वोत्तम विद्वान आचार्य सकलकीर्ति हुये। उनके पट्टरूपी उदयाचल पर सूर्य के समान भव्यरूपी कमलो को आनन्द प्रदान करने वाले प्रसिद्ध भट्टारक भुवनकीर्ति हुये, उन्ही के चरण कमलो का भक्त मैं ज्ञानभूषण भट्टारक हू, जिसने कि इस तत्वज्ञान तरगिणी ग्रन्थ का निर्माण किया है।

इस श्लोक से इन्होने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि भट्टारक शुभचन्द्र जो सोलहवी शताब्दी मे हो गये हैं उनके गुरु विजय-कीर्ति के ये गुरु थे।

ये आचार्यवर विक्रम सवत् के १५६० वें वर्ष मे विद्यमान थे और उस समय इस ग्रन्थ का इन्होने निर्माण किया था, क्योकि इसी ग्रन्थ मे—

यदैव विक्रमातीता:, शत पचदशाधिका ।
षष्टि: सवत्सरा जातास्तदेय निर्मिता कृति । अ १८ श्लोक

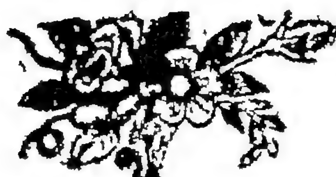
अर्थात्—जिस समय विक्रम सवत् के पन्द्रह सो साठ वर्ष बीत चुके थे उस समय इस तत्वज्ञान तरगिणी ग्रन्थ का निर्माण किया था। इस श्लोक से इन्होने यह बात बतलाई है। बस इनकी जीवनी की इन दो बातो के अर्थात् पट्ट और स्थितिकाल के सिवाय अपने जीवन मे इन्होने कितने ग्रन्थो का निर्माण किया और अन्य क्या-क्या अद्भुत कार्य किये यह कुछ भी वृत्त ज्ञात नही हुआ।

निश्चय ही वे सस्कृत भाषा के प्रकांड विद्वान एवं कवि थे, जब हम श्लोकों को गाते हैं या पढते हैं तो हृदय, भाव विभोर हो जाता है। सस्कृत भाषा का यह विशेष गुण है कि थोडे से शब्दो मे श्लोको के माध्यम से अधिक से अधिक कहा जा सकता है और वह सब "तत्वज्ञान तरंगिणी" मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

स्व० आदरणीय पंडित श्री गजाधरलालजी न्यायतीर्थ जिन्होने उक्त ग्रन्थ का अविकल अनुवाद एव सुन्दर भावार्थ किया है, उसे भी यथानुरूप अक्षरशः ग्रन्थ मे प्रकाशित किया गया है। हम पडितजी के प्रति कृतज्ञ है। अस्तु!

खडवा
(म० प्र०)

शान्तिभाई सर्राफ
ओमन्दर जैन



अध्याय–सूचिका



"यतिभावनाष्टकम्"

(आचार्य पद्मनन्दि)

आदाय व्रतमात्मतत्त्वममलं ज्ञात्वाथ गत्वा वनं
निःशेषामपि मोहकर्मजनितां हित्वा विकल्पावलिम् ।
ये तिष्ठन्ति मनोमरुच्चिदचलैकत्वप्रमोदं गता
निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनयस्ते सर्वसंगोज्झिताः ॥१॥

अर्थः—जो मुनि व्रतको ग्रहण करके, निर्मल आत्मतत्त्वको जान करके, वनमे जा करके, तथा मोहनीय कर्म के उदयसे उत्पन्न होने वाले सब ही विकल्पो के समूह को छोड़ करके मनरूपी वायुसे विचलित न होनेवाले स्थिर चैतन्यमे एकत्वके आनन्दको प्राप्त होते हुए पर्वत के समान निश्चल रहते हैं वे सम्पूर्ण परिग्रह से रहित मुनि जयवन्त होवें ॥१॥

चेतोवृत्तिनिरोधनेन करणग्रामं विधायोद्वसं ।
तत्संहृत्य गतागतं च मरुतो धैर्यं समाश्रित्य च ।
पर्यङ्केन मया शिवाय विधिवच्छून्यैकभूभृद्दरी-
मध्यस्थेन कदा चिदर्पितदृशा स्थातव्यमन्तर्मुखम् ॥२॥

अर्थ :—मुनि विचार करते हैं कि मैं मनके व्यापारको रोकता हुआ इन्द्रिय समूह को वीरान करके (जीत करके), वायु के गमनागमन को संकुचित करके धैर्य का अवलम्बन लेकर, तथा मोक्षप्राप्ति के निमित्त विधिपूर्वक पर्वत की एक निर्जन गुफा के बीच मे पद्मासन से स्थित होकर अपने स्वरूप पर दृष्टि रखता हुआ कब चेतन आत्मा मे लीन होकर स्थित होऊंगा ? ॥२॥

धूलीधूसरितं विमुक्तवसनं पर्यङ्कमुद्रागतं
शान्तं निर्वचनं निमीलितदृशं तत्त्वोपलम्भे सति ।

उत्कीर्णं दृषदीव मां वनभुवि भ्रान्तो मृगाणां गणः
पश्यत्युद्गतविस्मयो यदि तदा मादृग्जनः पुण्यवान् ॥३॥

अर्थ —तत्त्वज्ञान के प्राप्त हो जाने पर धूलि से मलिन (अस्नात), वस्त्र से रहित, पद्मासन से स्थित, शान्त वचनरहित तथा आखो को मीचे हुए, ऐसी अवस्था को प्राप्त हुए मुझको यदि वनभूमि मे भ्रम को प्राप्त हुआ मृगो का समूह आश्चर्यचकित होकर पत्थर में उकेरी हुई मूर्ति समझने लग जावे तो मुझ जैसा मनुष्य पुण्यशाली होगा ॥३॥

वासः शून्यमठे क्वचिन्निवसनं नित्यं ककुम्मण्डलं
संतोषो धनमुन्नतं प्रियतमा क्षान्तिस्तपो वर्तनम् ।
मैत्री सर्वशरीरिभिः सह सदा तत्त्वैकचिन्तासुखं
चेदास्ते न किमस्ति मे शमवतः कार्यं न किंचित् परैः ॥४॥

अर्थ ः—यदि मेरा किसी निर्जन उपाश्रय मे निवास हो जाता है, सदा दिशासमूह ही मेरा वस्त्र बन जाता है अर्थात् यदि मेरे पास किंचित् मात्र भी परिग्रह नहीं रहता है, सन्तोष ही मेरा उन्नत धन हो जाता है, क्षमा ही मेरी प्यारी स्त्री बन जाती है, एक मात्र तप ही मेरा व्यापार हो जाता है, सब ही प्राणियो के साथ मेरा मैत्रीभाव हो जाता है, तथा यदि मैं सदा ही एक मात्र तत्त्वविचार से उत्पन्न होने वाले सुख का अनुभव करने लग जाता हू, तो फिर अतिशय शान्ति को प्राप्त हुए मेरे पास क्या नही है ? सब कुछ है । ऐसी अवस्था मे मुझको दूसरो से कुछ भी प्रयोजन नही रहता है ॥४॥

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुद्ध्वा श्रुतं पुण्यतो
वैराग्य च करोति यः शुचि तपो लोके स एकः कृती ।
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानामृतं पीयते
प्रासादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपितः ॥५॥

अर्थ :—लोक मे जो मनुष्य पुण्य के प्रभाव से उत्तम कुल मे जन्म लेकर, उत्तम शरीर को पाकर और आगम को जान करके वैराग्य को प्राप्त होता हुआ निर्मल तप करता है वह अनुपम पुण्यशाली है। वही मनुष्य यदि प्रतिष्ठा के मोह (आदर सत्कार का भाव) को छोड़कर ध्यानरूप अमृत का पान करता है तो समझना चाहिये कि उसने सुवर्ण-मय प्रासाद के ऊपर मणिमय कलश को स्थापित कर दिया है ॥५॥

ग्रीष्मे भूधरमस्तकाश्रितशिलां मूलं तरोः प्रावृषि
प्रोद्भूते शिशिरे चतुष्पथपदं प्राप्ताः स्थिति कुर्वते ।
ये तेषां यमिनां यथोक्ततपसां ध्यानप्रशान्तात्मनां
मार्गे संचरतो मम प्रशमिनः कालः कदा यास्यति ॥६॥

अर्थ :—जो साधु ग्रीष्म ऋतु मे पर्वत के शिखर के ऊपर स्थित शिला के ऊपर, वर्षा ऋतु मे वृक्ष के मूल मे, तथा शीत ऋतु के प्राप्त होनेपर चौरस्ते में स्थान प्राप्त करके ध्यान मे स्थित होते हैं; जो आगमोक्त अनशनादि तप का आचरण करते हैं, और जिन्होंने ध्यान के द्वारा अपनी आत्मा को अतिशय शान्त कर लिया है, उनके मार्गमे प्रवृत्त होते हुए मेरा काल अत्यन्त शान्ति के साथ कब बीतेगा ? ॥६॥

भेदज्ञानविशेषसंहृतमनोवृत्तिः समाधिः परो
जायेताद्भुतधामधन्यशमिनां केषांचिदत्राचलः ।
वज्रे मूर्ध्नि पतत्यपि त्रिभुवने वह्निप्रदीप्तेऽपि वा
येषां नो विकृतिर्मनागपि भवेत् प्राणेषु नश्यत्स्वपि ॥७॥

अर्थ :—शिर के ऊपर वज्र के गिरने पर भी, अथवा तीनो लोको के अग्नि से प्रज्वलित हो जाने पर भी, अथवा प्राणो के नाश को प्राप्त होते हुए भी जिनके चित्त मे थोडा-सा भी विकारभाव नही उत्पन्न होता है; ऐसे आश्चर्यजनक आत्मतेज को धारण करनेवाले किन्ही विरले ही श्रेष्ठ मुनियो के वह उत्कृष्ट निश्चल समाधि होती है

जिसमे भेदज्ञान विशेष के द्वारा मन का व्यापार (दुष्प्रवृत्ति) रुक जाता है ॥७॥

अन्तस्तत्त्वमुपाधिवर्जितमहंव्याहारवाच्यं परं
ज्योतिर्यैः कलितं श्रितं च यतिभिस्ते सन्तु नः शान्तये ।
येषां तत्सदनं तदेव शयनं तत्संपदस्तत्सुखं
तद्वृत्तिस्तदपि प्रियं तदखिलश्रेष्ठार्थ संसाधकम् ॥८॥

अर्थ :—जिन मुनियो ने बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह से रहित और 'अहम्' शब्द के द्वारा कहे जानेवाले उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप अन्तस्तत्त्व अर्थात् अन्तरात्मा के स्वरूप को जान लिया है तथा उसीका आश्रय भी किया है, एव जिन मुनियों का वही आत्मतत्त्व भवन है, वही शय्या है, वही सम्पत्ति है, वही सुख है, वही व्यापार है वही प्यारा है, और वही समस्त श्रेष्ठ पदार्थों को सिद्ध करने वाला है, वे मुनि हमे शान्ति के लिये होवें ॥८॥

पापारिक्षयकारि दातृ नृपतिस्वर्गापवर्गश्रियं
श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं चिच्चेतनानन्दिभिः ।
भक्त्या यो यतिभावनाष्टकमिदं भव्यस्त्रिसंध्यं पठेत्
किं किं सिध्यति वाञ्छितं न भुवने तस्यात्र पुण्यात्मनः ॥९॥

अर्थ —आत्मचैतन्य मे आनन्द का अनुभव करने वाले श्रीमान् पद्मनन्दी (भव्य जीवों को प्रफुल्लित करनेवाले गणधरादिको या पद्मनन्दी मुनि) के द्वारा रचा गया यह आठ श्लोकमय 'यति भावना' प्रकरण पापरूप शत्रु को नष्ट करके राजलक्ष्मी, स्वर्गलक्ष्मी और मोक्ष लक्ष्मी को भी देने वाला है । जो भव्य जीव तीनों सध्याकालो (प्रात, मध्याह्न और सायकाल) मे भक्तिपूर्वक इस यतिभावनाष्टक को पढता है उस पुण्यात्मा जीव को यहा लोक में कौन कौन-सा अभीष्ट पदार्थ सिद्ध नही होता है ? अर्थात् उसे सभी अभीष्ट पदार्थ सिद्ध होते हैं ॥९॥

इस प्रकार यतिभावनाष्टक समाप्त हुआ ।



भट्टारक–श्री ज्ञानभूषण विरचिता

तत्व ज्ञान तरंगिणी

शुद्ध चिद्रूपका लक्षण प्रतिपादन करने वाला

प्रथम अध्याय

प्रणम्य शुद्धचिद्रूप सानंदं जगदुत्तम ।
तल्लक्षणादिकं वच्मि तदर्थी तस्य लब्धये ।।१।।

अर्थ—निराकुलतारूप अनुपम आनद भोगने वाले, समस्त जगतमे उत्तम, शुद्ध चैतन्य स्वरूपको नमस्कार कर उसकी प्राप्तिका अभिलाषी, मै (ग्रन्थकार) उसके लक्षण आदिका प्रतिपादन करता हूँ ।

भावार्थ—इस श्लोकमे शुद्धचिद्रूप विशेष्य और सानंद एवं जगदुत्तम उसके विशेषण है । यहा पर शुद्ध आत्मा की जगह 'शुद्धचिद्रूप' ऐसा कहनेसे यह आशय प्रगट किया है कि ज्ञान आदि रूप चेतना और आत्मा जुदे पदार्थ नही–ज्ञान आदि रूप ही आत्मा है । अनेक महाशय आत्माको आनद स्वरूप नही मानते–उससे आनंदको जुदा मानते है, इसलिये उनको समझानेके लिये 'सानद' पद कहा है अर्थात् आत्मा आनंद स्वरूप है । नास्तिक आदि शुद्धचिद्रूपको मानते नही और उनकी दृष्टिमे वह उत्तम भी नही जंचता, इसलिये उनके बोधनार्थ यहां 'जगदुत्तम' पद दिया है अर्थात् लोकके समस्त पदार्थोमे शुद्धचिद्रूप ही उत्तम है ।।१।।

पश्यत्यवैति विश्वं युगपन्नोकर्मकर्मणामणुभिः ।
अखिलैर्मुक्तो योऽसौ विज्ञेयः शुद्धचिद्रूपः ।।२।।

अर्थ—जो समस्त जगतको एक साथ देखने जानने वाला है । नोकर्म और कर्मके परमाणुओ (वर्गणाओं) से रहित है वही शुद्धचिद्रूप है ।

भावार्थ—कार्माणजातिकी पुद्गलवर्गणाये लोकाकाश मे सर्वत्र भरी हुई हैं और तेल आदिकी चिकनाईसे युक्त पदार्थ पर जिसप्रकार पवनसे प्रेरे धूलिके रेणु आकर लिपट जाते है उसीप्रकार स्फटिक पाषाणके समान निर्मल भी, रागद्वेषरूपी चिकनाईसे युक्त आत्माके साथ कार्माण जाति की वर्गणाये सबद्ध हो जाती है और इसके ज्ञान दर्शन आदि स्वभावोको ढक देती है । परन्तु जो समस्त नोकर्म और कर्मोंकी वर्गणाओसे रहित है और विरोधीकर्म (केवल) दर्शनावरण एव (केवल) ज्ञानावरणका नाशकर अपने अखड दर्शन और अखड ज्ञानसे समस्त लोकको एक साथ देखने जानने वाला है उसीका नाम शुद्धचिद्रूप है । औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन शरीर एव आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन छह पर्याप्तियोके योग्य कर्म पुद्गल, नोकर्म हैं और ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्म कहे जाते हैं ।।२।।

अर्थान् यथास्थितान् सर्वान् समं जानाति पश्यति ।
निराकुलो गुणी योऽसौ शुद्धचिद्रूप उच्यते ।।३।।

अर्थ—जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उन्हे उसी रूपसे एक साथ जानने देखनेवाला, आकुलतारहित और

समस्त गुणोंका भडार शुद्धचिद्रूप कहा जाता है। यहा इतना विशेष है कि पहिले श्लोकसे सिद्धोको शुद्धचिद्रूप कहा है और इस श्लोकसे अर्हंत भी शुद्धचिद्रूप है यह बात बतलाई है ॥३॥

स्पर्शरसगंधवर्णैः शब्दैर्मुक्तो निरंजनः स्वात्मा ।
तेन च स्वैरग्राह्योऽसावनुभावनागृहीतव्यः ॥४॥

अर्थ—यह स्वात्मा स्पर्श, रस, गध, वर्ण और शब्दो से रहित है, निरजन है। इसलिये किसी इन्द्रिय द्वारा गृहीत न होकर अनुभवसे —स्वानुभव प्रत्यक्षसे इसका ग्रहण होता है।

भावार्थ—जिस पदार्थमे स्पर्श रस आदि गुण होते हैं, उसका ही प्रत्यक्ष स्पर्शन आदि इन्द्रियोसे होता है, अन्य का नही। इस स्वात्मा शुद्ध आत्मामे कोई स्पर्श आदि नही है, इसलिये स्पर्शके अभावसे इस स्पर्शन इन्द्रियसे, रसके अभावसे रसना इन्द्रियसे, गधके अभावसे घ्राण इन्द्रिय से, वर्णके अभावसे चक्षुरिन्द्रियसे, और शब्दके अभावसे श्रोत्र इन्द्रियसे नही जान सकते। किन्तु केवल 'अह अहं' इस अन्तर्मुखाकार प्रत्यक्षसे इसका ज्ञान होता है ऐसा जानना चाहिये ॥४॥

सप्तानां धातूनां पिंडो देहो विचेतनो हेयः ।
तन्मध्यस्थोऽवैतीक्षतेऽखिलं यो हि सोहं चित् ॥५॥
आजन्म यदनुभूतं तत्सर्वं यः स्मरन् विजानाति ।
कररेखावत् पश्यति सोऽहं बद्धोऽपि कर्मणाऽत्यंतं ॥६॥

श्रुतमागमात् त्रिलोके त्रिकालजं चेतनेतरं वस्तु ।
य पश्यति जानाति च सोऽहं चिद्रूप लक्षणो नान्यः ॥७॥

अर्थ—यह शरीर शुक्र रक्त मज्जा आदि सात धातुओ का समुदाय स्वरूप है। चेतना शक्तिसे रहित और त्यागने योग्य है, एव जो इसके भीतर समस्त पदार्थोको देखने जानने वाला है वह मैं आत्मा हूँ ॥५॥ जन्मसे लेकर आज तक जो पदार्थ अनुभवे है उन सवको स्मरण कर हाथकी रेखाओके समान जो जानता देखता है वह ज्ञानावरण आदि कर्मोमे कड़ी रीतिसे जकडा हुआ भी मैं वास्तवमे शुद्ध-चिद्रूप ही हू ॥६॥ तीन लोक और तीनो कालोमे विद्यमान चेतन और जड पदार्थोको आगमसे श्रवणकर जो देखता जानता है वह चैतन्यरूप लक्षणका धारक मैं स्वात्मा हूं। मुझ सरीखा अन्य कोई नही हो सकता। इन श्लोकोंसे आचार्य उपाध्याय और सामान्य मुनियोका भी शुद्धचिद्रूप पदसे ग्रहण किया है ॥७॥ स्वय ग्रन्थकार भी शुद्धचिद्रूप पदसे किन किन का ग्रहण है, इस बातको दिखाते हैं—

शुद्धचिदरूप इत्युक्ते ज्ञेयाः पंचार्हदादयः ।
अन्येऽपि तादृशाः शुद्ध शब्दस्य बहु भेदतः ॥८॥

अर्थ—शुद्धचिद्रूप पदसे यहा पर अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु इन पाँचो परमेष्ठियोका ग्रहण है तथा इनके समान अन्य शुद्धात्मा भी शुद्धचिद्रूप शब्द से लिये हैं, क्योकि शुद्ध शब्दके बहुतसे भेद हैं।

भावार्थ—यदि शुद्ध निश्चयनयसे कहा जाय तो सिद्ध-परमेष्ठी ही शुद्धचिद्रूप हो सकते है, परन्तु यहाँ पर भावीनैगम-

नयसे मुनि आदिको भी शुद्धचिद्रूप माना है, क्योंकि आगे ये भी सिद्धस्वरूपको प्राप्त करेंगे ।।८।।

नो दृक् नो धीर्न वृतं न तप इह यतो नैव सौख्यं न शक्ति-
र्नादोषो नो गुणीतो न परमपुरुषः शुद्धचिद्रूपतश्च ।
नोपादेयोऽप्यहेयो न न पररहितो ध्येयरूपो न पूज्यो
नान्योत्कृष्टश्च तस्मात्प्रति समयं मह तत्स्वरूप स्मरामि।९।

अर्थ—यह शुद्धचिद्रूप ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। तप, सुख, शक्ति और दोषोंका अभाव स्वरूप है। गुणवान और परम पुरुष है। उपादेय-ग्रहण करने योग्य और अहेय (न त्यागने योग्य) है। पर परिणतिसे रहित ध्यान करने योग्य है। पूज्य और सर्वोत्कृष्ट है। किन्तु शुद्धचिद्रूपसे भिन्न सम्यग्दर्शन आदि कोई पदार्थ नहीं, इसलिये प्रतिसमय मैं उसीका स्मरण मनन करता हूँ।

भावार्थ—संसारमे जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, सुख आदि पदार्थोको हितकारी और उत्तम मानते है, परन्तु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिसे ये सब आपसे आप आकर प्राप्त हो जाते है, क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि शुद्धचिद्रूपसे भिन्न कोई पदार्थ नही, इसलिये जिन महानुभावोको सम्यग्दर्शन आदि पदार्थोंके पानेकी अभिलाषा है उन्हे चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपका ही स्मरण मनन ध्यान करे ।।९।।

ज्ञेयो दृश्योऽपि चिद्रूपो ज्ञाता दृष्टा स्वभावतः ।
न तथाऽन्यानि द्रव्याणि तस्माद् द्रव्योत्तमोऽस्ति सः ।१०।

अर्थ—यद्यपि यह चिद्रूप, ज्ञेय-ज्ञानका विषय दृश्य-दर्शनका विषय है। तथापि स्वभावसे ही यह पदार्थोंका जानने और देखने वाला है, परन्तु अन्य कोई पदार्थ ऐसा नही जो ज्ञेय और दृश्य होने पर जानने देखने वाला हो, इसलिये यह चिद्रूप समस्त द्रव्योमें उत्तम है।

भावार्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे द्रव्य छह प्रकारके हैं। उन सबमें जीव द्रव्य सब द्रव्योमे उत्तम है, क्योंकि दूसरोसे जाना देखा जाने पर भी यह ज्ञाता और दृष्टा है। परन्तु इससे अन्य सब द्रव्य जड है, इसलिये वे ज्ञान और दर्शनके ही विषय है, अन्य किसी पदार्थको देखते जानते नही ॥१०॥

स्मृतेः पर्यायाणामवनिजलभृतामिंद्रियार्थागसां च
त्रिकालानां स्वान्योदित वचनततेः शब्दशास्त्रादिकानां।
सुतीर्थानामस्त्रप्रमुखकृतरुजा क्ष्माव्हाणां गुणानां
विनिश्चेयः स्वात्मा सुविमलमतिभिर्दृष्टबोधस्वरूपः।११।

अर्थ—जिनकी बुद्धि विमल है—स्व और परका विवेक रखनेवाली है, उन्हे चाहिये कि वे दर्शन ज्ञान स्वरूप अपनी आत्माको बाल, कुमार और युवा आदि अवस्थाओ, क्रोध, मान, माया आदि पर्यायोके स्मरणसे, पर्वत और समुद्रके ज्ञानसे, रूप रस गंध आदि इन्द्रियोके विषय और अपने अपराधोके स्मरणसे, भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनो कालोके ज्ञानसे, अपने पराये वचनोके स्मरणसे, व्याकरण न्याय आदि शास्त्रोके मनन ध्यानसे, निर्वाणभूमियो के देखने जाननेसे, शस्त्र आदिसे उत्पन्न हुये घावोके ज्ञान

से, भाँति २ के वृक्षोंकी पहिचानसे और भिन्न २ पदार्थों के भिन्न २ गुणोंके ज्ञानसे पहिचाने ।

भावार्थ—जो पदार्थ ज्ञानशून्य जड हैं उनके अंदर यह सामर्थ्य नही कि वे बाल कुमार वृद्ध आदि अवस्था, क्रोध मान माया आदि पर्याय, पर्वत, समुद्ररूप आदि इन्द्रियोंके विषय, अपने पराये अपराध, तीन काल, अपने परके वचन, न्याय व्याकरण आदि शास्त्र, निर्वाणभूमि, घाव आदिका दुःख, भांति २ के वृक्ष और पदार्थोंके भिन्न २ गुण जान सके, उन्हे तो दर्शन ज्ञान स्वरूप आत्मा ही जान सकता है, इसलिये पर्याय आदिके स्मरण ज्ञानको रखने वाले आत्मा को अन्य पदार्थोंसे जुदा कर पहिचान लेना चाहिये ॥११॥

ज्ञप्त्या दृक् चिदित ज्ञेया सा रूपं यस्य वर्त्तते ।
स तथोक्तोऽन्यद्रव्येण मुक्तत्वात्, शुद्ध इत्यसौ ॥१२॥
कथ्यते स्वर्णवत् तज्ज्ञैः सोहं नान्योस्मि निश्चयात् ।
शुद्धचिद्रूपोऽहमिति षड्वर्णार्थो निरुच्यते ॥१३॥युग्म॥

अर्थ—ज्ञान और दर्शनका नाम चित् है। जिसके यह विद्यमान हो वह चिद्रूप–आत्मा कहा जाता है। तथा जिसप्रकार कीट कालिमा आदि अन्य द्रव्योसे रहित सुवर्ण शुद्ध सुवर्ण कहलाता है, उसी प्रकार जिस समय यह चिद्रूप समस्त पर द्रव्योसे रहित हो जाता है उस समय शुद्ध चिद्रूप कहा जाता है। वही शुद्ध चिद्रूप निश्चयसे मै हूँ इस प्रकार "शुद्धचिद्रूपोऽह" इन छह वर्णोका परिष्कृत अर्थ समझना चाहिये ।

भावार्थ—जिस प्रकार सुवर्णके चाकचिक्य पीतता आदि गुण धारण करने वाला सुवर्ण कहा जाता है और

अग्निसे तपाने पर जब कीट कालिमादि पर पदार्थ उससे जुदे हो जाते हैं तब वह शुद्ध सुवर्ण कहलाता है। उसीप्रकार जिसमे ज्ञान दर्शनरूप चित् शक्ति हो वह चिद्रूप है और जो समस्त कर्म आदि पर द्रव्योसे रहित हो गया हो किं वा 'अपनी आत्माको पर द्रव्योसे रहित मानने वाला हो' उसे शुद्ध चिद्रूप समझना चाहिये और वैसा शुद्ध चिद्रूप मैं हूँ ऐसा विचारना चाहिये ॥१२-१३॥

दृष्टैर्ज्ञातैः श्रुतैर्वा विहितपरिचितैर्निदितैः संस्तुतैश्च,
नीतः सस्कार कोटि कथमपि विकृति नाशनं संभवं वै।
स्थूलैः सूक्ष्मैर जीवैरसुनिकर युतैः खाप्रियैः खप्रियैस्तै-
रन्यैर्द्रव्यैर्न साध्य किमपि मम चिदानंदरूपस्य नित्यं ।१४।

अर्थ—मेरा आत्मा चिदानंद स्वरूप है मुझे पर द्रव्यो से चाहे वे देखे हो, जाने हो, परिचयमे आये हो, बुरे हो, भले हो, भले प्रकार सस्कृत हो, विकृत हो, नष्ट हो, उत्पन्न हो, स्थूल हो, सूक्ष्म हों, जड हो, चेतन हो, इन्द्रियोको प्रिय हो, वा अप्रिय हो, कोई प्रयोजन नही।

भावार्थ—जब तक मुझे अपने चिदानंदस्वरूप का ज्ञान न था तब तक मैं बाह्य पदार्थोंमे लिप्त था—उन्हें ही अपना समझता था तथा दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, भले, बुरे, प्रिय और अप्रिय आदि मानकर, हर्ष विषाद करने लगता था, परन्तु जब मुझे आत्मिक चिदानंद स्वरूपका भान हुआ तब मुझे स्पष्ट जान पड़ा कि पर पदार्थोंसे मेरा किसी प्रकारका उपकार नही हो सकता, इसलिये इनसे तनिक भी प्रयोजन नही सध सकता ॥१४॥

विक्रियाभिरशेषाभिरंगकर्मप्रसूतिभिः ।
मुक्तो योऽसौ चिदानंदो युक्तोऽनंतदृगादिभिः ॥१५॥

अर्थः—यह चिदानंद, शरीर और कर्मोंके समस्त विकारोसे रहित है और अनतदर्शन अनतज्ञान आदि आत्मिक गुणोसे संयुक्त है ।

भावार्थः—अंग और कर्म जड है । वे चिदानद स्वरूप आत्माको किसी प्रकार विकृत नही बना सकते, इसलिये यह चिदानंद स्वरूप आत्मा उनके विकारोसे सर्वथा विमुक्त है तथा अनंतदर्शन अनंतज्ञान आदि जो इसके निज स्वरूप है उनसे सर्वदा भूषित है ॥१५॥

असावनेकरूपोऽपि स्वभावादेकरूप भाग् ।
अगम्यो मोहिनां शीघ्रगम्यो निर्मोहिनां विदां ॥१६॥

अर्थः—यद्यपि यह चिदानद स्वरूप आत्मा, अनेक स्वरूप है तथापि स्वभावसे यह एक ही स्वरूप है, जो मूढ़ है—मोहकी शृंखलासे जकडे हुए है, वे इसका जरा भी पता नही लगा सकते; परन्तु जिन्होने मोहको सर्वथा नष्ट कर दिया है, वे इसका बहुत जल्दी पता लगा लेते है ।

भावार्थ—आत्मा अनतज्ञान अनतदर्शन अनतसुख अनतवीर्य आदि अनंत गुणोका भडार है, इसलिये इसे अनंत-ज्ञान स्वरूप अनत दर्शन स्वरूप अनतसुखस्वरूप आदि कहते है, परन्तु वास्तवमे यह एक स्वरूप—चेतनस्वरूप ही है । जो मनुष्य मोहके नशे मे मत्त है—पर द्रव्योको अपना मान सदा उनमे अनुरक्त रहते है, वे रत्ती भर भी इस चिदानद स्वरूप

आत्माका पता नही पा सकते, किन्तु जो मोहसे सर्वथा रहित हैं—परपदार्थोंको जरा भी नहीं अपनाते वे बहुत ही जल्दी इसके स्वरूपका आस्वाद कर लेते है ॥१६॥

चिद्रूपोऽयमनाद्यंतः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ।
कर्मणाऽस्ति युतोऽशुद्धः शुद्धः कर्मविमोचनात् ॥१७॥

अर्थ.—यह चिदानंद स्वरूप आत्मा, अनादि अनत है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनो अवस्था स्वरूप है। जबतक कर्मोंसे युक्त बना रहता है, तबतक अशुद्ध और जिस समय कर्मोंसे सर्वथा रहित हो जाता है, उस समय शुद्ध हो जाता है।

भावार्थः—यह चिदानद स्वरूप आत्मा कब हुआ और कब नष्ट होगा ऐसा नही कह सकते, इसलिये अनादि अनत है। कभी इसकी घट ज्ञानरूप पर्याय उत्पन्न होती है और कभी वह नष्ट होती है तथा इसका चेतना स्वरूप सदा विद्यमान रहता है, इसलिये यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनो अवस्थाओका धारक है। और जब तक यह कर्मो के जालमे फँसा रहता है तब तक तो अशुद्ध रहता है और कर्मोंसे सर्वथा जुदा होते ही शुद्ध हो जाता है ॥१७॥

शून्याशून्यस्थूलसूक्ष्मोस्तिनास्तिनित्याऽनित्याऽमूर्तिमूर्तित्वमुख्यैः ।
धर्मैर्युक्तोऽप्यन्यद्रव्यैर्विमुक्तः चिद्रूपोयं मानसे मे सदास्तु ॥१८॥

अर्थः—यह चैतन्यस्वरूप आत्मा शून्यत्व, अशून्यत्व, स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, अमूर्तित्व और मूर्तित्व आदि अनेक धर्मोंसे सयुक्त है और पर

द्रव्योके सम्बन्धसे विरक्त है, इसलिये ऐसा चिद्रूप सदा मेरे हृदयमें विराजमान रहो।

भावार्थ—यह चित्स्वरूप आत्मा निश्चयनयसे कर्मोंसे सर्वथा रहित है, इसलिये शून्य है, व्यवहारनयसे कर्मोंसे संबद्ध है, इसलिये अशून्य भी है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा अस्तिस्वरूप है, परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा नास्तिस्वरूप है। स्वस्वरूपसे सदा विद्यमान रहना है, इसलिये द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा नित्य है और प्रति समय इसके ज्ञान दर्शन आदि गुणोमे परिणमन हुआ करता है, इसलिये पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा अनित्य भी है। कर्मोंसे नीर क्षीरकी ज्यों एकम एक है, इसलिये कथचित् मूर्त्त भी है और निश्चयनयसे कर्मोंसे सदा जुदा है, इसलिये कथचित् अमूर्त्त भी है। इसीप्रकार वस्तुत्व प्रमेयत्व आदि भी गुण इसके अंदर विराजमान हैं और शरीर आदि बाह्य द्रव्योसे यह सर्वथा रहित है ॥१८॥

ज्ञेयं दृश्यं न गम्यं मम जगति किमप्यस्ति कार्यं न वाच्यं
ध्येयं श्रव्यं न लभ्यं न च विशदमतेः श्रेयमादेयमन्यत् ।
श्रीमत्सर्वज्ञवाणी जलनिधिमथनात् शुद्धचिद्रूप रत्नं
यस्माल्लब्धं मयाहो कथमपि विधिनाऽप्राप्तपूर्वंप्रियं च ॥१९॥

अर्थ—भगवान सर्वज्ञकी वाणीरूपी समुद्रके मथन करनेसे मैंने बडे भाग्यसे शुद्ध चिद्रूपरूपी रत्न प्राप्त कर लिया है और मेरी बुद्धि परपदार्थोंको निज न माननेसे स्वच्छ हो चुकी है, इसलिये अब मेरे लिये ससारमे कोई पदार्थ न जानने

लायक रहा और न देखने योग्य, ढूंढने योग्य, कहने योग्य, ध्यान करने योग्य, सुनने योग्य, प्राप्त करने योग्य, आश्रय करने योग्य, और ग्रहण करने योग्य ही रहा, क्योंकि यह शुद्धचिद्रूप अप्राप्त पूर्व—पहिले कभी भी प्राप्त न हुआ था, ऐसा है और अतिप्रिय है।

भावार्थ—ससारमे अन्य समस्त पदार्थ प्राप्त कर लिये। अभी तक केवल शुद्धचिद्रूप पदार्थ नही पाया था और उसके अभावमे पर पदार्थों को आत्मिक मानकर बुद्धि भी मलिन हो रही थी, परन्तु भगवान जिनेन्द्रके उपदेशसे आज मुझे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हो गई है। परपदार्थ कभी मेरे हितकारी नही बन सकते, ऐसा निश्चय होनेसे मेरी बुद्धि भी निर्मल है, इसलिये ससारमे मेरे लिये जानने, देखने, ढूंढने आदिके योग्य कोई पदार्थ न रहा। शुद्धचिद्रूपके लाभसे मैंने सबको जान लिया, देख लिया और सुन आदि लिया ॥१९॥

शुद्धश्चिद्रूपरूपोहमिति मम दधे मंक्षु चिद्रूपरूपं
चिद्रूपेणैव नित्यं सकलमलभिदा तेनचिद्रूपकाय।
चिद्रूपाद् भूरिसौख्यात् जगति वरतरात्तस्य चिद्रूपकस्य
माहात्म्य वेत्ति नान्यो विमलगुणगणो जातु चिद्रूपकेऽज्ञात्॥२०

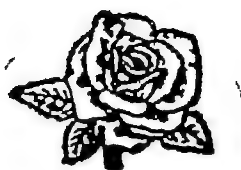
इति मुमुक्षु भट्टारक श्री ज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञान तरंगिण्यां
शुद्धचिद्रूप लक्षणप्रतिपादकः प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अर्थः—शुद्धचित्स्वरूपी मै समस्त दोषोंके दूर करने वाले चित्स्वरूपके द्वारा चिद्रूपकी प्राप्तिके लिये सौख्यके भंडार और परम पावन चिद्रूपसे अपने चिद्रूपको धारण करता हूं। मुझसे भिन्न अन्य मनुष्य उसके विषयमे अज्ञानी

है, इसलिये वह चित्स्वरूपका भले प्रकार ज्ञान नही रख सकता और ज्ञानके न रखनेसे उसके माहात्म्यको न जानकर उसे धारण भी नही कर सकता।

भावार्थ—जो मनुष्य जिस बातको जानता है, वही उसकी प्राप्तिके लिये उद्योग करता है और उसे प्राप्त कर सकता है। अज्ञानी मनुष्य अज्ञात पदार्थकी प्राप्तिके लिये न उद्योग कर सकता है और न उसे धारण ही कर सकता है। मै शुद्धचित्स्वरूप हूँ, ऐसा चिद्रूपका मुझे ज्ञान है और उसके माहात्म्यको भी भलेप्रकार समझता हूँ, इसलिए उसके द्वारा उससे उसकी प्राप्तिके लिये मैं उसे धारण करता हूँ, किन्तु जो मनुष्य चिद्रूपका ज्ञान नही रखता और चिद्रूपके माहात्म्यको भी नही जानता वह उसे धारण भी नही कर सकता ॥२०॥

इसप्रकार मोक्षप्राप्तिके अभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा विरचित तत्त्वज्ञान तरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपका लक्षण प्रतिपादन करनेवाला पहिला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥



शुद्धचिद्रूपके ध्यानका उत्साह प्रदान करनेवाला

द्वितीय अध्याय

मृत्पिंडेन विना घटो न न पटस्तंतून् विना जायते
धातुर्नैव विना दलं न शकटः काष्ठं विना कुत्रचित् ।
सत्स्वन्येष्वपि साधनेषु च यथा धान्यं न बीजं विना
शुद्धात्मस्मरणं विना किल मुनेर्मोक्षस्तथा नैव च ॥१॥

अर्थ—जिसप्रकार अन्य सामान्य कारणोके रहनेपर भी असाधारण कारण मिट्टीके पिंडके विना घट नही बन सकता, ततुओ के विना पट, खदक (जिस जगह गेरू आदि उत्पन्न होते हैं) के बिना गेरू आदि धातु, काठके बिना गाड़ी और बीजके बिना धान्य नही हो सकता, उसीप्रकार जो मुनि मोक्षके अभिलाषी हैं—मोक्ष स्थान प्राप्त करना चाहते हैं वे भी विना शुद्धचिद्रूपके स्मरणके उसे नही पा सकते ।

भावार्थ—मूलमे साधारण कारणोकी मौजूदगी होनेपर भी यदि असाधारण कारण न हो तो कदापि कार्य नही हो सकता । घटकी उत्पत्तिमे असाधारण कारण मृत्पिड, पटकी उत्पत्तिमे ततु, धातुकी उत्पत्तिमे खदक, गाडीकी उत्पत्तिमे काष्ठ और धान्यकी उत्पत्तिमे असाधारण कारण बीज है । तो जिसप्रकार मृत्पिड आदिके विना घट आदि नही बन सकते, उसीप्रकार मोक्षकी प्राप्तिमे असाधारण कारण शुद्ध आत्माका स्मरण है, इसलिये अन्य हजारो सामान्य कारणो के जुटाने पर भी बिना शुद्धचिद्रूपके स्मरणके मोक्ष प्राप्ति भी

कदापि नही हो सकती, इसलिये मोक्ष प्राप्तिके अभिलाषियों को चाहिये कि वे अवश्य शुद्धात्माका स्मरण करे ॥१॥

बीजं मोक्षतरोर्भवार्णवतरी दुःखाटवीपावको
दुर्गं कर्मभियां विकल्परजसां वात्यागसां रोधनं ।
शस्त्रं मोहजये नृणामशुभतापर्यायरोगौषधं
चिद्रूपस्मरणं समस्ति च तपोविद्यागुणानां गृहं ॥२॥

अर्थ—यह शुद्धचिद्रूपका स्मरण मोक्षरूपी वृक्षका कारण है। ससाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिए नाव है। दुख.रूपी भयंकर वनके लिये दावानल है। कर्मोसे भीत मनुष्योके लिए सुरक्षित सुदृढ किला है। विकलपरूपी रजके उड़ानेके लिये पवनका समूह है। पापोका रोकने वाला है। मोहरूप सुभटके जीतनेके लिये शस्त्र है। नरक आदि अशुभ पर्यायरूपी रोगोके नाश करनेके लिये उत्तम अव्यर्थ औषध है एवं तप, विद्या और अनेक गुणोंका घर है।

भावार्थ—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपका स्मरण करनेवाला है वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है, संसारको पार कर लेता है, समस्त दु खोको दूर कर देता है, कर्मोके भयसे रहित हो जाता है, विकल्प और पापोंका नाश कर देता है, मोहको जीत लेता है, नरक आदि पर्यायोसे सर्वदाके लिये छूट जाता है और अनेक तप विद्या आदि गुणोकी भी प्राप्ति कर लेता है। इसलिये शुद्धचिद्रूपका अवश्य स्मरण करना चाहिये ॥२॥

क्षुत्तृड्रुग्शीतातपजलवचसः शस्त्रराजादिभीभ्यो
भार्यापुत्रारिनैः स्वानलनिगडगवाद्यश्वरैकंटकेभ्यः ।

संयोगायोगदंशप्रपतनरजसो मानभंगादिकेभ्यो
जातं दुःखं न विद्मः क्व च पटति नृणांशुद्धचिद्रूपभाजां ।।३।।

अर्थ—संसारमें जीवोको क्षुधा, तृषा, रोग, वात, ठंडी, उष्णता, जल, कठोर वचन, शस्त्र, राजा, स्त्री, पुत्र, शत्रु, निर्धनता, अग्नि, बेड़ो, गौ, भैंस, घोडे, धन, कटक, संयोग, वियोग, डांस, मच्छर, पतन, धूलि और मानभंग आदिसे उत्पन्न हुये अनेक दु.ख भोगने पडते हैं; परन्तु न मालूम जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपके स्मरण करने वाले है उनके वे दु.ख कहां विलीन हो जाते हैं ?

भावार्थ.—जो महानुभाव शुद्धात्माका स्मरण करने वाले हैं, उन्हें भूख नही सताती, प्यास दु ख नही देती, रोग नही होता, वात नही सताती, ठड नही लगती, उष्णता व्याकुल नही करती, जलका उपद्रव नही होता, क्रूर मनुष्यों द्वारा कहे हुये दुष्ट वचन दु'ख नही पहुचाते, राजा आदि दण्ड नही दे सकता, दुष्ट स्त्री, पुत्र-शत्रुओसे उत्पन्न हुआ दुःख नही भोगना पड़ता, निर्धनता—दरिद्रता नही होती, अग्निका उपद्रव नही सहन करना पड़ता, बधनमे नही बँधना पडता, गौ और अश्व आदिसे पीडा नही होती, धनकी चोरीसे दु ख नही होता, काटे दुःख नही देते, अनिष्ट पदार्थोंका सयोग नही होता, इष्ट पदार्थ वियुक्त नही होते, डास मच्छर दु ख नही दे सकते, पतन नही हो सकता तथा धूलि और मानभग का भी कष्ट नही भोगना पड़ता इसलिये शुद्धचिद्रूपका स्मरण परम सुख देनेवाला है ।।३।।

स कोपि परमानंदश्चिद्रूपध्यानतो भवेत् ।
तदंशोपि न जायेत त्रिजगत्स्वामिनामपि ।।४।।

अर्थः—शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे वह एक अद्वितीय और अपूर्व ही आनन्द होता है कि जिसका अंश भी तीन जगतके स्वामी इन्द्र आदिको प्राप्त नही हो सकता ।

भावार्थः—इन्द्र, नरेन्द्र और धरणेद्र यद्यपि सर्वोत्तम विषयसुखका भोग करते है, परन्तु वह सुख, सुख नहीं कहलाता क्योकि शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे उत्पन्न हुये आत्मिक नित्य सुखकी वह अनित्य तथा परपदार्थोंसे जन्य होनेसे अंश मात्र भी तुलना नही कर सकता ।।४।।

सौख्यं मोहजयोऽशुभास्रवहतिर्नाशोतिदुष्कर्मणा-
मत्यंतं च विशुद्धता नरि भवेदाराधना तात्त्विकी ।
रत्नानां त्रितय नृजन्म सफलं संसार भीनाशन
चिद्रूपोहमितिस्मृतेश्च समता सद्भ्यो यशः कीर्त्तनं ।।५।।

अर्थः—"मैं शुद्धचिद्रूप हू" ऐसा स्मरण होते ही नानाप्रकारके सुखोंकी प्राप्ति होती है । मोहका विजय, अशुभ आस्रव और दुष्कर्मोका नाश, मान्यता, अतिशय विशुद्धता, सर्वोत्तम आराधना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी रत्नोकी प्राप्ति, मनुष्य जन्म की सफलता, ससारके भयका नाश, सर्वजीवोमे समता और सज्जनोके द्वारा कीर्ति का गान होता है ।

भावार्थः—शुद्धचिद्रूपका स्मरण ही जब सौख्यका कर्ता, मोहका जीतने वाला, अशुभ आस्रव एवं दुष्कर्मोंका हर्ता होता है और मान्यता, अतिशय विशुद्धता, सर्वोत्तम

आराधना, सम्यग्दर्शन आदि रत्नोकी प्राप्ति, मनुष्य जन्मकी सफलता, ससारके भयका नाश, सर्वजीवोमे समता एव सज्जनोसे कीर्तिगान कराने वाला है, तव उसकी प्राप्ति तो और भी उत्तमोत्तम फल प्रदान करने वाली होगी, इसलिये उत्तम पुरुषोको चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपका सदा स्मरण करते हुये उसकी प्राप्तिका उपाय करें ॥५॥

वृत्तं शीलं श्रुतं चाखिलखजयतपोदृष्टिसद्भावनाश्च
धर्मो मूलोत्तराख्या वरगुणनिकरा आगसां मोचनं च ।
बाह्यांतः सर्वसंगत्यजनमपि विशुद्धांतरंगं तदानी—
मूर्मीणां चोपसर्गस्य सहनमभवच्छुद्धचित्तस्थितस्य ॥६॥

अर्थः—जो महानुभाव शुद्धचिद्रूपमे स्थित है उसके सम्यक्चारित्र, शील और शास्त्रकी प्राप्ति होती है, इन्द्रियों का विजय होता है, तप, सम्यग्दर्शन, उत्तम भावना और धर्मका लाभ होता है मूल और उत्तमगुण प्राप्त होते हैं, समस्त पापोका नाश, वाह्य और अभ्यतर परिग्रहका त्याग और अन्तरग विशुद्ध हो जाता है एव वह नानाप्रकारके उपसर्गोंकी तरगोको भी झेल लेता है ।

भावार्थ—शुद्धचिद्रूपमे मनके स्थिर करनेसे उत्तमोत्तम गुण प्राप्त होते हैं और दु ख दूर हो जाते हैं, इसलिये विद्वानोको चाहिये कि वे कर्ममलरहित पवित्र चैतन्य स्वरूप आत्मामे अपना मन स्थिर करे ॥६॥

तीर्थेषूत्कृष्टतीर्थं श्रुतिजलधिभवं रत्नमादेयमुच्चैः
सौख्यानां वा निधानं शिवपदगमने वाहनं शीघ्रगामि ।

वात्यां कर्मौघरेणौ भववनदहने पावकं विद्धि शुद्ध-
चिद्रूपोहं विचारादिति वरमतिमन्नक्षराणां हि षट्कं ।।७।।

अर्थः—ग्रंथकार उपदेश देते है कि—हे मतिमन् ! 'शुद्धचिद्रूपोऽहं' मैं शुद्धचित्स्वरूप हू, ऐसा सदा तुझे विचार करते रहना चाहिये, क्योकि 'शुद्धचिद्रूपोह' ये छै अक्षर ससारसे पार करने वाले समस्त तीर्थोमें उत्कृष्ट तीर्थ है। शास्त्ररूपी समुद्रसे उत्पन्न हुए 'ग्रहण करनेके लायक' उत्तम रत्न है। समस्त सुखो के विशाल खजाने है। मोक्ष स्थानमे ले जानेके लिये बहुत जल्दी चलने वाले वाहन (सवारी) हैं। कर्मरूपी धूलिके उडानेके लिये प्रबल पवन है और ससाररूपी वनके जलानेके लिये जाज्वल्यमान अग्नि है ।।७।।

क्व यांति कार्याणि शुभाशुभानि क्व यांति संगाश्चिदचित्स्वरूपाः ।
क्व यांति रागादय एव शुद्धचिद्रूपकोहंस्मरणे न विद्मः ।।८।।

अर्थः— हम नही कह सकते कि—'शुद्धचिद्रूपोह' मैं शुद्धचित्स्वरूप हू, ऐसा स्मरण करते ही शुभ-अशुभ कर्म, चेतन—अचेतन स्वरूप परिग्रह और राग द्वेष आदि दुर्भाव कहां लापता हो जाते है ?

भावार्थः—शुद्धचिद्रूपके स्मरण करते ही शुभ-अशुभ समस्त कर्म नष्ट हो जाते है, चेतन-अचेतन स्वरूप परिग्रहोसे भी सर्वथा सबंध छूट जाता है और राग-द्वेष आदि महादुष्ट भाव भी एक ओर किनारा कर जाते हैं, इसलिये विद्वानोको चाहिये कि वे अवश्य इस चिद्रूपका स्मरण ध्यान करे ।।८।।

मेरुः कल्पतरुः सुवर्णममृतं चिंतामणिः केवलं
साम्यं तीर्थंकरो यथा सुरगवी चक्री सुरेंद्रो महान् ।

भूभृद्भूरुहधातुपेयमणिधीवृत्ताप्तगोमानवा-
मर्त्येष्वेव तथा च चिंतनमिह ध्यानेषु शुद्धात्मनः ॥९॥

अर्थः—जिसप्रकार पर्वतोमें मेरु, वृक्षोमे कल्पवृक्ष, धातुओमे स्वर्ण, पीने योग्य पदार्थोमे अमृत, रत्नोमे चिन्तामणि रत्न, ज्ञानोमे केवलज्ञान, चारित्रोमे समतारूप चारित्र, आप्तोमे तीर्थंकर, गायोमें कामधेनु, मनुष्योमे चक्रवर्ती और देवोमें इन्द्र महान और उत्तम हैं उसीप्रकार ध्यानोमे शुद्धचिद्रूपका ध्यान ही सर्वोत्तम है।

भावार्थ.—जिसप्रकार अन्य पर्वत मेरुपर्वतकी, अन्यवृक्ष कल्पवृक्षकी, अन्य धातु स्वर्णकी, अन्य पीने योग्य पदार्थ अमृतकी और अन्य रत्न आदि पदार्थ चिन्तामणि आदिकी तुलना नही कर सकते, उसीप्रकार अन्य पदार्थोंका ध्यान शुद्धात्माके ध्यानके समान नही हो सकता, इसलिये शुद्धचिद्रूपका ध्यान ही सर्वोत्तम और लाभदायक है ॥९॥

निधानानां प्राप्तिर्न च सुरकुरुहां कामधेनोः सुधा-
याश्चितारत्नानामसुरसुरनराकाशगेशेंद्रि राणां।
खभोगानां भोगावनि भवन भुवां चाहमिंद्रादिलक्ष्म्या
न संतोषं कुर्यादिह जगति यथा शुद्धचिद्रूपलब्धिः॥१०॥

अर्थः—यद्यपि अनेक प्रकारके निधान (खजाने), कल्पवृक्ष, कामधेनु, अमृत, चिन्तामणि रत्न, सुर, असुर, नर और विद्याधरोके स्वामियोकी लक्ष्मी, भोग भूमियोमे प्राप्त इन्द्रियोके भोग और अहमिन्द्र आदिकी लक्ष्मीकी प्राप्ति भी संसारमे संतोष-सुख प्रदान करने वाली है; परन्तु जिस प्रकारका संतोष शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिसे होता है वैसा इन किसीसे नही होता।

भावार्थः—अनेक प्रकारके निधान, कल्पवृक्ष आदि पदार्थ ससारमें सर्वथा दुर्लभ हैं–बड़े भाग्यसे मिलते हैं, इसलिये इनकी प्राप्तिसे भी अवश्य कुछ न कुछ संतोष होता है परन्तु वैसा सतोष नही होता जैसा कि शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिसे होता है, क्योकि निधान, कल्पवृक्ष आदि अनित्य हैं उनसे थोड़े कालके लिये ही संतोष हो सकता है, शुद्ध-चिद्रूप नित्य है–कभी भी इसका नाश नही हो सकता, इसलिये इसकी प्राप्तिसे जो सुख होता है वह सदा विद्यमान रहता है ॥१०॥

ना दुर्वर्णो विकर्णो गतनयनयुगो वामनः कुब्जको वा
छिन्नघ्राणः कुशब्दो विकलकरयुतो वाग्विहीनोऽपि पंगुः ।
खंजो निःस्वोऽनधीतश्रुत इह वधिरः कुष्ठरोगादियुक्तः
श्लाघ्यः चिद्रूपचिंता पर इतरजनो नैव सुज्ञानवद्भिः ॥११॥

अर्थः—जो पुरुष शुद्ध चिद्रूपकी चिन्तामें रत है-सदा शुद्धचिद्रूपका विचार करता रहता है वह चाहे दुर्वर्ण-काला, कवरा-वूचा, अंधा, बोना, कुबडा, नकटा, कुशब्द बोलनेवाला, हाथ रहित–टूटा, गूंगा, लूला, गजा, दरिद्र, मूर्ख, बहरा और कोढी आदि कोई भी क्यों न हो विद्वानोकी दृष्टिमें प्रशंसाके योग्य है । सब लोग उसे आदरणीय दृष्टिसे देखते; किन्तु अन्य सुन्दर भी मनुष्य यदि शुद्धचिद्रूपकी चिन्तासे विमुख है तो उसे कोई अच्छा नही कहता ।

भावार्थः—चाहे मनुष्य कुरूप और निर्धन ही क्यों न हो यदि वह गुणी है तो अवश्य उसके गुणोंका आदर सत्कार होता; किन्तु रूपवान धनी भी मनुष्य यदि गुणशून्य है तो

कोई भी उसका मान नहीं करता। कुवडा, अंधा, लंगडा आदि होनेपर भी यदि कोई पुरुष शुद्धचिद्रूपमे रत है तो वह अवश्य आदरणीय है; क्योकि वह गुणी है और अन्य मनुष्य चाहे वह सुन्दर, सुडौल और धनवान ही क्यो न हो यदि शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे शून्य है, तो वह कदापि प्रशसाके योग्य नही गिना जाता ।।११।।

रेणूनां कर्मणः संख्या प्राणिनो वेत्ति केवली ।
न वेद्मीति क्व यांत्येते शुद्धचिद्रूपचिंतने ।।१२।।

अर्थः—आत्माके साथ कितने कर्मकी रेणुओ (वर्गणाओ) का संबध होता है ? इस बातको सिवाय केवलीके अन्य कोई भी मनुष्य गणना नही कर सकता, परन्तु न मालूम शुद्धचिद्रूपकी चिन्ता करते ही वे अगणित भी कर्मवर्गणायें कहा लापता हो जाती हैं ।

भावार्थ—आत्माके साथ अनन्त वर्गणाओका प्रतिसमय बंध होता रहता है, जिनको कि सिवाय केवलीके अन्य कोई जान देख नही सकता; परन्तु शुद्धचिद्रूपकी भावनासे आत्माके साथ किसी भी कर्मवर्गणाका सबध नही होता ।।१२।।

तं चिद्रूपं निजात्मानं स्मर शुद्ध प्रतिक्षणं ।
यस्य स्मरणमात्रेण सद्यः कर्म क्षयो भवेत् ।।१३।।

अर्थः—हे आत्मन् ! तू, स्मरण करते ही समस्त कर्मोंके नाश करने वाले शुद्धचिद्रूपका प्रतिक्षण स्मरण कर; क्योंकि शुद्धचिद्रूप और स्वात्मामें कोई भेद नही–दोनो एक ही हैं ।।१३।।

उत्तमं स्मरणं शुद्धचिद्रूपोऽहमितिस्मृतेः ।
कदापि क्वापि कस्यापि श्रुतं दृष्टं न केनचित् ॥१४॥

अर्थः—"मैं शुद्धचिद्रूप हूँ" ऐसा स्मरण ही सर्वोत्तम स्मरण माना गया है; क्योकि उससे उत्तम स्मरण कही भी किसी भी स्थान पर हुआ, न सुना और न देखा ।

भावार्थः—स्त्री पुत्र आदिका जो स्मरण प्रतिसमय इस जीवको होता हुआ, देखा व सुना गया है, उससे भी शुद्धचिद्रूपका स्मरण सर्वोत्तम स्मरण समझना चाहिये ॥१४॥

शुद्धचिद्रूपसदृशं ध्येयं नैव कदाचन ।
उत्तमं क्वापि कस्यापि भूतमस्ति भविष्यति ॥१५॥

अर्थः—शुद्धचिद्रूपके समान उत्तम और ध्येय–ध्याने योग्य पदार्थ न कही हुआ, न है और न होगा, इसलिये शुद्धचिद्रूपका ही ध्यान करना चाहिये ॥१५॥

ये याता यांति यास्यंति योगिनः शिव संपदः ।
समासाद्यैव चिद्रूपं शुद्धमानंद मदिरं ॥१६॥

अर्थ—जो योगी मोक्ष–नित्यानंदरूपी संपत्तिको प्राप्त हुये, होते है और होगे, उसमे शुद्धचिद्रूपकी आराधना ही कारण है । बिना शुद्धचिद्रूपकी भलेप्रकार आराधनाके कोई मोक्ष-नित्यानद नही प्राप्त कर सकता, क्योकि यह शुद्धचिद्रूप ही आनन्दका मदिर है–अद्वितीय नित्य आनन्द प्रदान करने वाला है ॥१६॥

द्वादशांगं ततो बाह्यं श्रुतं जिनवरोदितं ।
उपादेयतया शुद्धचिद्रूपस्तत्र भाषितः ॥१७॥

अर्थः—भगवान जिनेन्द्रने अगप्रविष्ट (द्वादशांग) और अंगबाह्य—दो प्रकारके शास्त्रोका प्रतिपादन किया है। इन शास्त्रोमे यद्यपि अनेक पदार्थोंका वर्णन किया है; तथापि वे सब हेय (त्यागने योग्य) कहे है और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) शुद्धचिद्रूपको बतलाया है ।।१७।।

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानाद्गुणाः सर्वे भवति च ।
दोषाः सर्वे विनश्यंति शिवसौख्यं च संभवेत् ।।१८।।

अर्थः—शुद्धचिद्रूपका भलेप्रकार ध्यान करनेसे समस्त गुणोकी प्राप्ति होती है। राग-द्वेप आदि दोष नष्ट हो जाते हैं और निराकुलतारूप मोक्ष सुख मिलता है ।।१८।।

चिद्रूपेण च घातिकर्महननाच्छुद्धेन धाम्ना स्थितं
यस्मादत्र हि वीतरागवपुषो नाम्नापि नुत्यापि च ।
तद्विंबस्य तदोकसो झगिति तत्कारायकस्यापि च
सर्वं गच्छति पापमेति सुकृतं तत्तस्य किं नो भवेत् ।।१९।।

अर्थः—शुद्धचिद्रूपसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतरायरूप घातिया कर्मोका नाश हो जाता है; क्योकि वीतराग—शुद्धचिद्रूपका नाम लेनेसे, उनकी स्तुति करनेसे तथा उनकी मूर्ति और मदिर बनवानेसे ही जब समस्त पाप दूर हो जाते हैं और अनेक पुण्योकी प्राप्ति होती है, तब उनके (शुद्धचिद्रूपके) ध्यान करनेसे तो मनुष्यको क्या उत्तम फल प्राप्त न होगा ? अर्थात् शुद्धचिद्रूपका ध्यानी मनुष्य उत्तमसे उत्तम फल प्राप्त कर सकता है ।।१९।।

कोऽसौ गुणोस्ति भुवेन न भवेत्तदा यो
दोषोऽथवा क इह यस्त्वरितं न गच्छेत् ।
तेषां विचार्य कथयंतु बुधाश्च शुद्ध-
चिद्रूपकोऽहमिति ये यमिनः स्मरति ॥२०॥

अर्थः—ग्रन्थकार कहते है-प्रिय विद्वानो ! आप ही विचार कर कहें, जो मुनिगण 'मैं शुद्धचिद्रूप हूँ' ऐसा स्मरण करने वाले हैं उन्हे कौनसे तो वे गुण है जो प्राप्त नही होते और कौनसे वे दोष हैं जो उनके नष्ट नही होते अर्थात् शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेवालोको समस्त गुण प्राप्त हो जाते हैं और उनके सब दोष दूर हो जाते हैं ॥२०॥

तिष्ठंत्वेकत्र सर्वे वरगुणनिकराः सौख्यदानेऽतितृप्ताः ।
संभूयात्यंतरम्या वरविधिजनिता ज्ञानजायां तुलायां ।
पार्श्वेन्यस्मिन् विशुद्धा ह्युपविशतु वरा केवला चेति शुद्ध-
चिद्रूपोहंस्मृतिर्भो कथमपि विधिना तुल्यतां ते न यांति ।२१।

अर्थः—ज्ञानको तराजूकी कल्पना कर उसके एक पलडे मे समस्त उत्तमोत्तम गुण, जो भाति भातिके सुख प्रदान करने वाले है, अत्यन्त रम्य और भाग्यसे प्राप्त हुये है, इकट्ठे रखे और दूसरे पलडेमे अतिशय विशुद्ध केवल 'मैं शुद्धचिद्-रूप हूँ' ऐसी स्मृतिको रखे तब भी वे गुण शुद्धचिद्रूपकी स्मृतिकी तनिक भी तुलना नही कर सकते ।

भावार्थः—यद्यपि ससार मे अनेक उत्तमोत्तम गुण है और वे भाति भातिके सुख प्रदान करते हैं; तथापि ज्ञान-दृष्टिसे देखने पर वे शुद्धचिद्रूपकी स्मृतिके बराबर कीमती नहीं हो सकते—शुद्धचिद्रूपकी स्मृति ही सर्वोत्तम है ॥२१॥

तीर्थतां भूः पदैः स्पृष्टा नाम्ना योऽघचयः क्षयं ।
सुरौघो याति दासत्व शुद्ध चिद्रक्तचेतसा ।।२२।।

अर्थः—जो महानुभाव शुद्धचिद्रूपके धारक हैं—उसके ध्यानमें अनुरक्त हैं, उनके चरणोसे स्पर्श की हुई भूमि तीर्थ 'अनेक मनुष्योको ससारसे तारने वाली' हो जाती है। उनके नामके लेनेसे समस्त पापोका नाश हो जाता है और अनेक देव उनके दास हो जाते हैं ।।२२।।

शुद्धस्य चित्स्वरूपस्य शुद्धोन्योऽन्यस्य चिंतनात् ।
लोहं लोहाद् भवेत्पात्र सौवर्णं च सुवर्णतः ।।२३।।

अर्थः—जिसप्रकार लोहेसे लोहेका पात्र और स्वर्णसे स्वर्णका पात्र बनता है, उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपकी चिन्ता करनेसे आत्मा शुद्ध और अशुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेसे अशुद्ध होता है।

भावार्थ.—कारण जैसा होता है कार्य भी उससे वैसा ही पैदा होता है। जिसप्रकार लोहपात्रका कारण लोह है, इसलिये उससे लोहका पात्र और स्वर्णपात्रका कारण स्वर्ण है, इसलिये उससे स्वर्णका ही पात्र बन सकता है। उसी प्रकार आत्माके शुद्ध होनेमे शुद्धचिद्रूपकी चिन्ता प्रधान कारण है, इसलिये उससे आत्मा शुद्ध होता है और अशुद्ध-चिद्रूपकी चिन्तासे अशुद्ध आत्मा होता है, क्योकि आत्माके अशुद्ध होनेमे अशुद्धचिद्रूपकी चिंता कारण है ।।२३।।

मग्ना ये शुद्धचिद्रूपे ज्ञानिनो ज्ञानिनोपि ये ।
प्रमादिनः स्मृतौ तस्य तेपि मग्ना विधेर्वशात् ।।२४।।

अर्थः—जो शुद्धचिद्रूपके ज्ञाता है, वे भी उसमें मग्न है और जो उसके ज्ञाता होने पर भी उसके स्मरण करनेमे प्रमाद करने वाले है, वे भी उसमे मग्न हैं। अर्थात् स्मृति न होने पर भी उन्हे शुद्धचिद्रूपका ज्ञान ही आनन्द प्रदान करने वाला है ॥२४॥

सप्तधातुमयं देहं मलमूत्रादिभाजनं ।
पूज्यं कुरु परेषां हि शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥२५॥

इति मुमुक्षु भट्टारक ज्ञानभूषणविरचितायां तत्वज्ञान तरगिण्यां शुद्धचिद्रूपध्यानोत्साहसंपादको द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अर्थः—यह शरीर रक्त, वीर्य, मज्जा आदि सात धातु-स्वरूप है। मलमूत्र आदि अपवित्र पदार्थोंका घर है, इसलिये उत्तम पुरुषोको चाहिये कि वे इस निकृष्ट और अपवित्र शरीरको भी शुद्धचिद्रूपकी चिंतासे दूसरोके द्वारा पूज्य और पवित्र बनावें।

भावार्थः—यह शरीर अपवित्र पदार्थोंसे उत्पन्न अपवित्र पदार्थोंका घर है, इसलिये महा अपवित्र है; तथापि शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेसे यह पवित्र हो जाता है, इसलिये शरीरको पवित्र बनानेके लिये विद्वानोको अवश्य शुद्धचिद्रूपका ध्यान करना चाहिये ॥२५॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मित तत्त्वज्ञानतरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपके ध्यानका उत्साह प्रदान करने वाला दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥२॥



शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिका उपाय वर्णन करने वाला

तृतीय अध्याय

जिनेशस्य स्नानात् स्तुतियजनजपान्मंदिरार्चाविधाना-
च्चतुर्धा दानाद्वाध्ययनखजयतो ध्यानतः संयमाच्च ।
व्रताच्छीलात्तीर्थादिकगमनविधेः क्षांतिमुख्यप्रधर्मात्
क्रमाच्चिद्रूप्राप्तिर्भवति जगति ये वांछकास्तस्य तेषां ॥१॥

अर्थः—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति करना चाहते है उन्हे जिनेन्द्रका अभिषेक करनेसे, उनकी स्तुति पूजा और जप करनेसे, मन्दिरकी पूजा और उसके निर्माणसे आहार, औषध, अभय और शास्त्र–चार प्रकारके दान देनेसे, शास्त्रोके अध्ययनसे, इन्द्रियोके विजयसे, ध्यानसे, सयमसे, व्रतसे, शीलसे, तीर्थ आदिमे गमन करनेसे और उत्तम क्षमा आदि धर्मोके धारनेसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थः—यदि वास्तवमे देखा जाय तो शुद्धचिद्रूप के स्मरण करनेसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होती है, परन्तु भगवानका अभिषेक, उनकी स्तुति और जप आदि भी चिद्रूपकी प्राप्तिमे कारण है; क्योंकि अभिषेक आदिके करनेसे शुद्धचिद्रूपकी ओर दृष्टि जाती है, इसलिये शुद्ध-चिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषियोको अवश्य भगवानके अभिषेक स्तुति आदि करने चाहिये ॥१॥

देवं श्रुतं गुरुं तीर्थं भवंतं च तदाकृति ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यान हेतुत्वाद् भजते सुधीः ॥२॥

अर्थः—देव, शास्त्र, गुरु, तीर्थ और मुनि तथा इन सबकी प्रनिमा शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें कारण हैं—विना इनकी पूजा सेवा किये शुद्धचिद्रूपकी ओर ध्यान जाना सर्वथा दुःसाध्य है, इसलिये शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी विद्वान, अवश्य देव आदिकी सेवा उपासना करते है ॥२॥

अनिष्टान् खहृदामर्थानिष्टानपि भजेत्त्यजेत् ।
शुद्धचिद्रूप सद्ध्याने सुधीर्हेतूनहेतुकान् ॥३॥

अर्थः—शुद्धचिद्रूपके ध्यान करते समय इन्द्रिय और मनके अनिष्ट पदार्थ भी यदि उसकी प्राप्तिमें कारण स्वरूप पडे तो उनका आश्रय कर लेना चाहिये और इन्द्रिय मनको इष्ट होने पर भी यदि वे उसकी प्राप्तिमे कारण न पड़े—बाधक पडे तो उन्हे सर्वथा छोड देना चाहिये ।

भावार्थः—संसारमे पदार्थ दो प्रकारके हैं—इष्ट और अनिष्ट । जो पदार्थ मन और इन्द्रियोको प्रिय है, वे इष्ट हैं और जो अप्रिय है, वे अनिष्ट हैं । इनमे, अनिष्ट रहने पर भी जो पदार्थ शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमे कारण हों उनका अवलंबन कर लेना चाहिये और जो इष्ट होने पर भी उसकी प्राप्तिमें कारण न हों उनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; क्योकि उनसे कोई प्रयोजन नही है ॥३॥

मुंचेत्समाश्रयेच्छुद्धचिद्रूपस्मरणेऽहितं ।
हितं सुधीः प्रयत्नेन द्रव्यादिक चतुष्टयं ॥४॥

अर्थः—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप पदार्थोंमे जो पदार्थ शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेमें हितकारी न हो उसे

है जिस समय किसी बातकी चिन्ता हृदयमे स्थान न पावे। यदि शुद्धचिद्रूपके ध्याते समय किसी प्रकारकी चिन्ता आ उपस्थित हुई तो वह ध्यान नष्ट ही हो जाता है, इसलिये विद्वानोको चाहिए कि शुद्धचिद्रूपके ध्यान करते समय अन्य किसीभी चिन्ताको अपने हृदयमे जरा भी न फटकने दे।६।

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानभानुरत्यंतनिर्मलः ।
जनसंगतिसजातविकल्पाब्दैस्तिरोभवेत् ॥७॥

अर्थः—यह शुद्धचिद्रूपका ध्यानरूपी सूर्य, महानिर्मल और दैदीप्यमान है। यदि इस पर स्त्री पुत्र आदिके ससर्ग से उत्पन्न हुये विकल्परूपी मेघका पर्दा पड़ जायगा तो यह ढक ही जायगा।

भावार्थ.—स्त्री पुत्र आदिकी चिन्ताये शुद्धचिद्रूपके ध्यानमे विघ्न करने वाली है। चिन्ता होते ही ध्यान सर्वथा उखड जाता है, इसलिये शुद्धचिद्रूपके ध्यानीको तनिक भी स्त्री पुत्र आदि संबधी चिन्ता न करनी चाहिये ॥७॥

अभव्ये शुद्धचिद्रूपध्यानस्य नोद्भवो भवेत् ।
वंध्यायां किल पुत्रस्य विषाणस्य खरे यथा ॥८॥

अर्थः— जिस प्रकार बाझके पुत्र नही होता और गधे के सीग नही होते, उसी प्रकार अभव्यके शुद्धचिद्रूपका ध्यान कदापि नही हो सकता।

भावार्थः—अभव्यको मोक्ष स्वर्ग आदिका श्रद्धान नही होता; किन्तु पित्तज्वर वालेको मीठा दूध भी जिस प्रकार कडुआ लगता है, उसीप्रकार अभव्यको भी सब

धार्मिक बातें विपरीत ही भासती हैं। बाझके पुत्र और गधे के सीग होने जैसे असंभव हैं, उसी प्रकार अभव्यके चिद्रूप-का ध्यान होना भी सर्वथा असंभव है ॥८॥

दूरभव्यस्य नो शुद्धचिद्रूपध्यानसंरुचिः ।
यथाऽजीर्णविकारस्य न भवेदन्नसंरुचिः ॥९॥

अर्थः— जिसको अजीर्णका विकार है—खाया पीया नही पचता उसकी जिस प्रकार अन्नमे रुचि नही होती, उसी प्रकार जो दूर भव्य है उसकी भी शुद्धचिद्रूपके ध्यानमे प्रीति नही हो सकती ॥९॥

भेदज्ञानं विना शुद्धचिद्रूपज्ञानसंभवः ।
भवेन्नैव यथा पुत्रसंभूतिर्जनकं विना ॥१०॥

अर्थः—जिस प्रकार कि पुरुषके विना स्त्रीके पुत्र नही हो सकता, उसी प्रकार विना भेदविज्ञानके शुद्धचिद्रूपका ध्यान भी नही हो सकता।

भावार्थः— यह मेरी आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है और शरीर आदि पर तथा जड हैं, ऐसे ज्ञानका नाम भेदविज्ञान है। जब तब ऐसा ज्ञान नही होता तब तक शुद्धचिद्रूपका भी ज्ञान नही हो सकता, इसलिये शुद्धचिद्रूपके ज्ञानमे भेदविज्ञान प्रधान कारण है ॥१०॥

कर्मांगाखिलसंगे, निर्ममतामातरं विना ।
शुद्धचिद्रूप सद्ध्यान पुत्र सूतिर्न जायते ॥११॥

अर्थः—जिसप्रकार बिना माताके पुत्र उत्पन्न नही हो सकता, उसीप्रकार कर्म द्वारा प्राप्त होने वाले समस्त परिग्रहो-

में बिना ममता त्यागे शुद्धचिद्रूपका ध्यान भी होना असभव है अर्थात् पुत्रकी प्राप्तिमे जिसप्रकार माता कारण है, उसी प्रकार शुद्धचिद्रूपके ध्यानमे स्त्री पुत्र आदिमे निर्ममता (ये मेरे नही हैं ऐसा भाव) होना कारण है ।।११।।

ततस्य गतचिंता निर्जनताऽऽसन्न भव्यता ।
भेदज्ञानं परस्मिन्निर्ममता ध्यानहेतवः ।।१२।।

अर्थः—इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि चिन्ताका अभाव एकान्त स्थान, आसन्न भव्यपना, भेदविज्ञान और दूसरे पदार्थों मे निर्ममता ये शुद्धचिद्रूपके ध्यानमे कारण है—बिना इनके शुद्धचिद्रूपका कदापि ध्यान नही हो सकता ।।१२।।

नृस्त्रीतिर्यग्सुराणां स्थितिगतिवचनं नृत्यगान शुचादि
क्रीड़ा क्रोधादि मौनं भयहसनजरारोदनस्वापशूकाः ।
व्यापाराकाररोगं नुतिनतिकदनं दीनतादु:खशंकाः
शृंगारादीन् प्रपश्यन्नमिह भवे नाटकं मन्यते ज्ञः ।।१३।।

अर्थः—जो मनुष्य ज्ञानी है-ससारकी वास्तविक स्थितिका जानकार है वह मनुष्य, स्त्री, तिर्यंच और देवोके स्थिति, गति, वचनको, नृत्य गानको, शोक आदिको, क्रीडा; क्रोध आदि, मौनको, भय, हँसी, बुढापा, रोना, सोना, व्यापार, आकृति, रोग, स्तुति, नमस्कार, पीडा, दीनता, दु:ख, शंका, भोजन और शृंगार आदिको ससारमे नाटकके समान मानता है ।

भावार्थः—जो मनुष्य अज्ञानी है वे तो मनुष्य, स्त्री, देव, देवांगना आदिके रहन सहन आदिको अच्छा बुरा समझते हैं । शोक और आनंद आदिके उपस्थित हो जाने पर दु:खी

सुखी हो जाते हैं; परंतु ज्ञानी मनुष्य यह जानकर कि नाटकमें कभी मनुष्य राजा कभी रंक और कभी मनुष्य स्त्री आदिका वेष धारण कर लेता है, उसी प्रकार इस जीवके कभी मनुष्य आदि पर्याय, कभी रोग शोक और कभी सुख दुःख सदा हुआ करते हैं–ससारका यह स्वभाव ही है, उसमें दु.ख सुख नहीं मानता ।।१३।।

चक्रींद्रयोः सदसि सस्थितयोः कृपास्या-
त्तद्भार्ययोरतिगुणान्वितयोर्घृणा च ।
सर्वोत्तमेंद्रियसुखस्मरणेऽतिकष्टं
यस्योद्भचेतसि स तत्त्वविदां वरिष्ठः ।।१४।।

अर्थः—जिस मनुष्यके हृदयमे, सभामे सिंहासन पर विराजमान हुये चक्रवर्ती और इन्द्रके ऊपर दया है, शोभामे रतिकी तुलना करने वाली इन्द्राणी और चक्रवर्तीकी पटरानीमे घृणा है और जिसे सर्वोत्तम इन्द्रियोके सुखोका स्मरण होते ही अतिकष्ट होता है, वह मनुष्य तत्त्वज्ञानियोमे उत्तम तत्त्व-ज्ञानी कहा जाता है ।

भावार्थ.—ज्ञानी पुरुष यह जानकर कि चक्रवर्ती और इन्द्र आज सिंहासन पर बैठे हैं, कल अशुभ कर्मके उदयसे मर कर कुगतिमे जायेगे और लक्ष्मी नष्ट हो जायगी उन पर दया करता है । यद्यपि चक्रवर्ती और इन्द्रकी स्त्रियां महा-मनोज्ञ होती हैं, तथापि विषय सम्बन्धी सुख महानिकृष्ट और दुःख देने वाला है, यह जानकर वह उनको घृणाकी दृष्टिसे देखता है और उत्तमोत्तम इन्द्रियोके सुखोको परिणाममें

दु.खदायी समझ उनका स्मरण करते ही दुःख मान लेता है।१४।

रम्यं वल्कलपर्णमंदिरकरीरं कांजिकं रामठं
लोह् ग्रावनिषादकुश्रुतमटेद् यावन्न यात्यंबरं ।
सौधं कल्पतरुं सुधां च तुहिनं स्वर्णं मणिं पंचमं
जैनीवाचमहो तथेंद्रिय भवं सौख्यं निजात्मोद्भवं ।।१५।।

अर्थः—जब तक मनुष्यको उत्तमोत्तम वस्त्र, महल, कल्पवृक्ष, अमृत, कपूर, सोना, मणि, पंचमस्वर, जिनेन्द्र भगवानकी वाणी और आत्मीक सुख प्राप्त नही होते तभी तक वह वक्कल पत्तेका (सामान्य), घर, करीर, कांजी, हीग, लोहा, पत्थर, निषादस्वर, कुशास्त्र और इन्द्रियजन्य सुखको उत्तम और कार्यकारी समझता है; परंतु उत्तम वस्त्र आदिके प्राप्त होते ही उसकी वक्कल आदिमे सर्वथा घृणा हो जाती है—उनको वह जरा भी मनोहर नही मानता।

भावार्थः—मनुष्य जब तक नीची दशामे रहता है और हीन पदार्थोंसे सबंध रखता है तब तक वह उन्हीको लोकोत्तर मानता है, परन्तु जबकि वह उन्नत और उत्तम पदार्थोंका लाभ कर लेता है तो उसे वे हीन पदार्थ बिल्कुल बुरे लगने लगते है। उसी प्रकार जब तक यह आत्मा कर्मोंसे मलिन रहती है तब तक कर्म जनित पदार्थोंको ही उत्तम पदार्थ समझता है; परन्तु शुद्धात्माकी प्राप्ति होते ही उसे इन्द्रिय-जन्य सुखदायक पदार्थोंसे भी सर्वथा घृणा हो जाती है ।।१५।।

केचिद् राजादिवार्तां विषयरतिकलाकीर्त्तिरैप्राप्तिचिंता
संतानोद्भूत्युपायं पशुनगविगवां पालनं चान्यसेवां ।
स्वापक्रीडौषधादीन् सुरनरमनसां रंजनं देहपोषं
कुर्वंतोऽस्यंति कालं जगति च विरलाः स्वस्वरूपोपलब्धि ।।१६।

अर्थः—संसारमें अनेक मनुष्य राजा आदिके गुणगान कर काल व्यतीत करते हैं। कई एक विषय, रति, कला, कीर्त्ति और धनकी चितासे समय बिताते हैं और बहुतसे सन्तानकी उत्पत्तिका उपाय, पशु, वृक्ष, पक्षी, गौ, बैल आदि का पालन, अन्यकी सेवा, शयन, क्रीड़ा, औषधि आदिका सेवन, देव, मनुष्योके मनका रजन और शरीरका पोषण करते करते अपनी समस्त आयुके कालको समाप्त कर देते हैं इसलिये जिनका समय स्व स्वरूप–शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमे व्यतीत हो ऐसे मनुष्य ससारमे विरले ही हैं।

भावार्थः—ससारमे मनुष्य अनेक प्रकारके होते हैं। कोई राजकथा करना अच्छा समझते हैं। कोई रात दिन इस चिन्तामे लगे रहते हैं कि हमको विषय सुख, कला, कीर्ति और धन कैसे मिले ? अनेकोकी यह कामना रहती है कि पुत्र कैसे हो ? इसलिये वे पुत्रकी उत्पत्तिके उपाय ही सोचते रहते हैं। कोई गौ, बैल आदि पशुओके पालन करनेमे ही आनन्द मानते हैं। अनेक दूसरोकी सेवा करना ही उत्तम समझते हैं। बहुतसे सोना, खेलना, औषधि आदिके सेवन करनेमे ही सतोष मानते है। किसी किसी मनुष्यका चित्त इसी चिन्तासे व्याकुल रहा आता है कि अमुक देव या मनुष्य हमसे प्रसन्न रहे और अनेक मनुष्य अपने शरीरके ही भरण पोषणमे लगे रहते हैं। सार यह है कि इनका समस्त जीवन इन्ही कामोंमे व्यतीत होता रहता है, वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न नही कर सकते। इसलिये शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नितांत दुर्लभ है और उसको विरले ही मनुष्य प्राप्त कर सकते हैं ॥१६॥

वाचांगेन हृदा शुद्धचिद्रूपोहमिति ब्रुवे ।
सर्वदानुभवामीह स्मरामीति त्रिधा भजे ॥१७॥

अर्थः—शुद्धचिद्रूपके विषयमे सदा यह विचार करते रहना चाहिये कि 'मैं शुद्धचिद्रूप हूँ' ऐसा मन वचन कायसे सदा कहता हूँ तथा अनुभव और स्मरण करता हूँ ।

भावार्थः—'मैं शुद्धचिद्रूप हूँ' ऐसा प्रति समय कहनेसे अनुभव और स्मरण करनेसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये दृढ प्रवृत्ति होती चली जाती है—उत्साह कम नही होता, इसलिये शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये अवश्य विद्वानोको ऐसा करते रहना चाहिये ॥१७॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानहेतुभूतां क्रियां भजेत् ।
सुधीः कांचिच्च पूर्वं तद्ध्याने सिद्धे तु तां त्यजेत् ॥१८॥

अर्थः—जब तक शुद्धचिद्रूपका ध्यान सिद्ध न हो सके, तब तक विद्वानको चाहिये कि उसकी कारण रूप क्रियाका अवश्य आश्रय ले, परन्तु उस ध्यानके सिद्ध होते ही उस क्रियाका सर्वथा त्याग कर दे ।

भावार्थः—जिसप्रकार चित्रकला सीखनेका अभिलाषी मनुष्य पहिले रद्दी कागजो पर चित्र बनाना सीखता है, पश्चात् चित्रकलामे प्रवीण हो जाने पर रद्दी कागजों पर चित्र खीचना छोड उत्तम कागजो पर खीचने लग जाता है । उसी प्रकार जो मनुष्य प्रथम ही प्रथम शुद्धचिद्रूपका ध्यान करता है उसका मन स्थिर नही रह सकता, इसलिये उसे ध्यानकी सिद्धिके लिये भगवानकी प्रतिमा आदि सामने रख

लेने चाहिये; परंतु जिस समय ध्यान सिद्ध हो जाय उस समय उनकी कोई आवश्यकता नही, सर्वथा उनका त्याग कर देना चाहिये ।।१८।।

अंगस्यावयवैरंगमंगुल्याद्यैः परामृशेत् ।
मत्याद्यैः शुद्धचिद्रूपावयवैस्तं तथा स्मरेत् ।।१९।।

अर्थ.—जिस प्रकार शरीरके अवयव अगुली आदिसे शरीरका स्पर्श किया जाता है, उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके अवयव जो मतिज्ञान आदि हैं उनसे उसका स्मरण करना चाहिये ।१९।

ज्ञेये दृश्ये यथा स्वे स्वे चित्तं ज्ञातरि दृष्टरि ।
दद्याच्चेन्ना तथा विंदेत्परं ज्ञान च दर्शनं ।।२०।।

अर्थ.—मनुष्य जिस प्रकार घट पट आदि ज्ञेय और दृश्य पदार्थोंमे अपने चित्तको लगाता है, उसी प्रकार यदि वह शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये ज्ञाता और दृष्टा-आत्मामे भी अपना चित्त लगावे तो उसे स्व स्वरूप शुद्ध दर्शन और ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त हो जांय ।।२०।।

उपायभूतमेवात्र शुद्धचिद्रूपलब्धये ।
यत् किंचित्त् प्रिय मेऽस्ति तदर्थित्वान्न चापर ।।२१।।

अर्थः—शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके इच्छुक मनुष्यको सदा ऐसा विचार करते रहना चाहिये कि जो पदार्थ शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमे कारण है वह मुझे प्रिय है; क्योकि मैं शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिका अभिलाषी हूँ और जो पदार्थ उसकी प्राप्तिमे कारण नही है, उससे मेरा प्रेम भी नही है ।।२१।।

चिद्रूपः केवलः शुद्ध आनंदात्मेत्यहं स्मरे ।
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्द्धेन निरूपितः ॥२२॥

अर्थः—यह चिद्रूप, अन्य द्रव्योके संसर्गसे रहित केवल है, शुद्ध है और आनन्द स्वरूप है, ऐसा मैं स्मरण करता हूँ क्योकि जो यह आधे श्लोकमे कहा गया भगवान सर्वज्ञका उपदेश है-वह ही मोक्षका कारण है ॥२२॥

बहिश्चितः पुरः शुद्धचिद्रूपाख्यानकं वृथा ।
अंधस्य नर्त्तनं गानं बधिरस्य यथा भुवि ॥२३॥
अन्तश्चितः पुरः शुद्धचिद्रूपाख्यानकं हितं ।
बुभुक्षिते पिपासार्त्तेऽन्नं जलं योजितं यथा ॥२४॥

अर्थः—जिस प्रकार अधेके सामने नाचना और बहिरे के सामने गीत गाना व्यर्थ है उसी प्रकार बहिरात्माके सामने शुद्धचिद्रूपकी कथा भी कार्यकारी नही है; परन्तु जिसप्रकार भूखेके लिये अन्न और प्यासेके लिये जल हितकारी है, उसी प्रकार अन्तरात्माके सामने कहा गया शुद्धचिद्रूपका उपदेश भी परम हित प्रदान करने वाला है ॥२३॥२४॥

उपाया बहवः संति शुद्धचिद्रूपलब्धये ।
तद्ध्यानेन समो नाभूदुपायो न भविष्यति ॥२५॥

इति मुमुक्षुभट्टारक श्री ज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां
शुद्धचिद्रूपप्राप्त्युपायनिरूपणो नाम
तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अर्थ.—अन्तमें ग्रन्थकार कहते है कि—यद्यपि शुद्ध-चिद्रूपकी प्राप्तिके बहुतसे उपाय है, तथापि उनमें ध्यानरूप

उपाय की तुलना करने वाला न कोई उपाय हुआ है, न है और न होगा, इसलिये जिन्हें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकी अभिलाषा हो उन्हें चाहिये कि वे सदा उसका ही नियम से ध्यान करें ।।२५।।

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्वज्ञान तरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिका उपाय वर्णन करने वाला तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ।।३।।



शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिको सुगम बतलाने वाला

चौथा अध्याय

न क्लेशो न धनव्ययो न गमन देशांतरे प्रार्थना
केषांचिन्न बलक्षयो न न भयं पीडा परस्यापि न ।
सावद्य ं न न रोग जन्मपतनं नैवान्यसेवा न हि
चिद्रूपस्मरणे फल बहु कथं तन्नाद्रियंते बुधाः ॥१॥

अर्थः—इस परमपावन चिद्रूपके स्मरण करने मे न किसी प्रकार का क्लेश उठाना पड़ता है, न धनका व्यय, देशातरमे गमन और दूसरेसे प्रार्थना करनी पड़ती है। किसी प्रकारकी शक्तिका क्षय, भय, दूसरेको पीडा, पाप, रोग, जन्म मरण और दूसरेकी सेवाका दु.ख भी नही भोगना पड़ता इसलिये अनेक उत्तमोत्तम फलोके धारक भी इस शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेमे हे विद्वानो ! तुम क्यो उत्साह और आदर नही करते ? यह नही जान पडता ।

भावार्थः—ससारमे बहुतसे पदार्थ ऐसे हैं जिनकी प्राप्तिमे अनेक क्लेश भोगने पडते हैं, धन व्यय, दूसरे देशमें गमन, दूसरेसे प्रार्थना, शक्तिका क्षय, भय, दूसरोको पीडा, नाना प्रकारके पाप, रोग, जन्म, मरण और अन्य सेवा आदि निकृष्ट कार्यों का भी सामना करना पड़ता है परंतु शुद्धचिद्रूपके स्मरणमे उपर्युक्त किसी बातका दु.ख भोगना नही पडता इसलिये आत्मिक सुखके अभिलाषी विद्वानोको चाहिये कि वे अचिंत्यसुख प्रदान करने वाले इस शुद्धचिद्रूपका अवश्य स्मरण करे ॥१॥

दुर्गमा भोगभूः स्वर्गभूमिर्विद्याधरावनिः ।
नागलोकधरा चातिसुगमा शुद्धचिद्धरा ॥२॥

तत्साधने सुखं ज्ञानं मोचनं जायते सम ।
निराकुलत्वमभयं सुगमा तेन हेतुना ॥३॥

अर्थः—ससारमे भोगभूमि, स्वर्गभूमि, विद्याधरलोक और नागलोककी प्राप्ति तो दुर्गम—दुर्लभ है; परन्तु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति अति सरल है क्योकि चिद्रूपके साधन मे सुख, ज्ञान, मोचन, निराकुलता और भयका नाश ये साथ साथ होते चले जाते हैं और भोगभूमि आदिके साधनमे बहुत कालके वाद दूसरे जन्ममे होते है ।

भावार्थः—भोगभूमि, स्वर्गभूमि, विद्याधरलोक और नागलोककी प्राप्ति ससारमे अति कष्टसाध्य है । हर एक मनुष्य भोगभूमि आदिकी प्राप्ति कर नही सकता और जो कर भी सकते है वे तप आदि आचरण करने से बहुत दिनोके वाद, पर जन्ममे कर सकते हैं और तभी वे वहा का सुख भोग सकते हैं, परन्तु जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपके स्मरण और ध्यान करनेवाले हैं वे बिना ही किसी कष्टके साथ ही साथ उसका सुख भोग लेते हैं, उसे प्राप्त कर लेते हैं । इसलिये विद्वानोको चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपका स्मरण ध्यान अवश्य करें ॥२–३॥

अन्नाश्मागुरुनागफेनसदृशं स्पर्शेन तस्यांशतः
कौमाराम्रकसोसवारिसदृशं स्वादेन सर्वं वरं ।
गंधेनैव घृतादि वस्त्रसदृशं दृष्ट्या च शब्देन च
कर्कर्यादि च मानसेन च यथा शास्त्रादि निश्चीयते ॥४॥

स्मृत्या दृष्टनगाब्धिभूरुहपुरीतिर्यग्नराणां तथा
सिद्धांतोक्तसुराचलह्रदनदीद्वीपादिलोकस्थितेः।
खार्थानां कृतपूर्वकार्यविततेः कालत्रयाणामपि
स्वात्मा केवलचिन्मयोऽशकलनात् सर्वोऽस्य निश्चीयते
॥५॥युग्मं॥

अर्थः—जिसप्रकार अन्न, पाषाण, अगुरु और अफीमके समान पदार्थके कुछ भागके स्पर्श करनेसे, इलायची, आम, कसीस और जलके समान पदार्थके कुछ अशके स्वादसे घी आदिके समान पदार्थके कुछ अशके सू घनेसे, वस्त्र सरीखे पदार्थके किसी अशको आँखसे देखनेसे, कर्करी (झालर) आदिके शब्द श्रवणसे और मनसे शास्त्र आदिके समस्त स्वरूपका निश्चय कर लिया जाता है। उसीप्रकार पहिले देखे हुये पर्वत, समुद्र, वृक्ष, नगरी, गाय, भैंस आदि तिर्यच और मनुष्योके, शास्त्रोसे जाने गये मेरु ह्रद, तालाब, नदी और द्वीप आदि लोककी स्थितिके, पहिले अनुभूत इंद्रियोके विषय और किये गये कार्योके एव तीनो कालोके स्मरण आदि कुछ अशोसे अखण्य चैतन्य स्वरूपके पिड स्वरूप इस आत्माका भी निश्चय कर लिया जाता है।

भावार्थ.—जिस प्रकार पाषाण, इलायची, घी, झालर आदि पदार्थोके समान पदार्थोंमे पाषाण आदिके समान ही स्पर्श, रस, गंध आदि गुण रहते है, इसलिये उनके स्पर्श, रस, गन्ध व शब्द आदि किसी अशसे उनके समस्त स्वरूपका निश्चय कर लिया जाता है। उसीप्रकार यह आत्मा भी मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान आदि चेतनाओका पिडस्वरूप है, क्योकि इसे पहिले देखे पर्वत, समुद्र, वृक्ष आदि पदार्थोका स्मरण

होता है । शास्त्रमें वर्णन किये मेरु ह्रद, नदी आदिके स्वरूप को यह जानता है । पहिले अनुभूत इन्द्रियोंके विषय और किये गये कामोका भी इसे स्मरण रहता है, भूत, भविष्यत व वर्तमान तीनो कालोको भी भले प्रकार जानता है। इसलिये स्मरण आदि कुछ अशोके निश्चयसे इसके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि समस्त स्वरूपका निश्चय हो जाता है, क्योकि स्मृति आदि अश सिवा इसके दूसरे किसी पदार्थमे नही रहते ।।४-५।।

द्रव्यं क्षेत्रं च कालं च भावमिच्छेत् सुधीः शुभं ।
शुद्धचिद्रूपसप्राप्ति हेतुभूतं निरंतर ।।६।।
न द्रव्येन न कालेन न क्षेत्रेण प्रयोजनं ।
केनचिन्नैव भावेन लब्धे शुद्धचिदात्मके ।।७।।

अर्थ·—जो महानुभाव शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे उसकी प्राप्तिके अनुपम कारण शुद्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका सदा आश्रय करे, परन्तु जिससमय शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हो जाय उस समय द्रव्य, काल, भावके आश्रय करनेकी कोई आवश्यकता नही ।

भावार्थः—कोलाहलपूर्ण और अशुभ द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावके आश्रयसे कभी शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नही हो सकती, इसलिये उसके इच्छुक विद्वानोको चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये शुभ किन्तु अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावका आश्रय करे । हा जब शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हो जाय, तब शुभ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रय करनेकी कोई आवश्यकता नही ।।६-७।।

परमात्मा परंब्रह्म चिदात्मा सर्वदृक् शिवः ।
नामानीमान्यहो शुद्धचिद्रूपस्यैव केवलं ॥८॥

अर्थः—परमात्मा, परंब्रह्म, चिदात्मा, सर्वदृष्टा और शिव ये समस्त नाम उसी शुद्धचिद्रूप के हैं ।

भावार्थः—शुद्धचिद्रूप समस्त कर्मोंसे रहित हो गया है । इसलिये वह परमात्मा और परंब्रह्म है, ज्ञान-दर्शन आदि चेतनाओका पिंडस्वरूप है इसलिए चिदात्मा–चैतन्य स्वरूप है, समस्त पदार्थोंका देखनेवाला है इसलिए सर्वदृक्-सर्वदृष्टा है और कल्याण स्वरूप है इसलिये शिव है ॥८॥

मध्ये श्रुताब्धेः परमात्मनामरत्नव्रजं वीक्ष्य मया गृहीतं ।
सर्वोत्तमत्वादिदमेव शुद्धचिद्रूपनामातिमहार्घ्यरत्नं ॥९॥

अर्थः—जैन शास्त्र एक अपार सागर है और उसमे परमात्माके नामरूपी अनन्त रत्न भरे हुये हैं, उनमेसे भले प्रकार परीक्षा कर और सबोंमें अमूल्य उत्तम मान यह शुद्ध-चिद्रूपका नामरूपी रत्न मैंने ग्रहण किया है ।

भावार्थः—जिसप्रकार रत्नाकर–समुद्रमे अनन्त रत्न विद्यमान रहते है और उनमेसे किसी एक सार व उत्तम रत्न को ग्रहण कर लिया जाता है । उसीप्रकार जैनशास्त्रमे भी परंब्रह्म, परमात्मा, शुद्धचिद्रूप आदि अगणित परमात्माके नाम उल्लेखित है, उनमे से मैंने शुद्धचिद्रूप, इस नामको उत्तम और परम प्रिय मान ग्रहण किया है और इसी नामका मनन व ध्यान करना उत्तम समझा है ॥९॥

नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुद्धचिद्रूपकं विना ।
तस्मादन्यत्र मे चिंता वृथा तत्र लयं भजे ।।१०।।

अर्थः—संसारमे सिवाय शुद्धचिद्‌रूपके न तो मैं कुछ हूँ और न अन्य ही कोई पदार्थ मेरा है इसलिये शुद्धचिद्‌रूपसे अन्य किसी पदार्थमे मेरा चिन्ता करना वृथा है, क्योकि अन्य पदार्थकी चिन्तासे मेरे स्वरूपका नाश होता है ।

भावार्थः— मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ । मुझसे अन्य समस्त पदार्थ जड हैं । जड़ और चेतनमे अति भेद है । कभी जड चेतन नही हो सकता और चेतन जड नही हो सकता । इसलिये मुझे जडको अपनाना और उसकी चिंता नही करना चाहिये; क्योकि जडका ध्यान करनेसे शुद्धचिद्‌रूपका ध्यान सर्वथा विलीन हो जाता है ।।१०।।

अनुभूय मया ज्ञातं सर्वं जानाति पश्यति ।
अयमात्मा यदा कर्मप्रतिसीरा न विद्यते ।।११।।

अर्थः—जिस समय कर्मरूपी परदा इस आत्माके ऊपर से हट जाता है, उससमय यह समस्त पदार्थोंको साक्षात् जान देख लेता है । यह बात मुझे अनुभवसे मालूम पडती है ।

भावार्थः—यह आत्मा अनादिकालसे संसारमें रुल रहा है और कर्मोंसे आवृत होनेके कारण इसे बहुत ही अल्पज्ञान होता है; परन्तु जिस समय कर्मोका आवरण हट जाता है उस समय यह समस्त पदार्थोंको हाथको रेखाके समान स्पष्ट-रूपसे देख जान लेता है यह बात अनुभवसिद्ध है ।।११।।

विकल्प जालजंबालान्निर्गतोऽयं सदा सुखी ।
आत्मा तत्र स्थितो दुःखीत्यनुभूय प्रतीयतां ।।१२।।

अर्थः—जब तक यह आत्मा नाना प्रकारके संकल्प विकल्प रूपी शेवाल (काई) मे फँसा रहता है, तब तक यह सदा दु खी बना रहता है—क्षण भरके लिये भी इसे सुख शाति नही मिलती; परन्तु जब इसके संकल्प विकल्प छूट जाते हैं; उस समय यह सुखी हो जाता है—निराकुलतामय सुखका अनुभव करने लग जाता है, ऐसा स्वानुभवसे निश्चय होता है ।।१२।।

अनुभूत्या मया बुद्धमयमात्मा महाबली ।
लोकालोकं यतः सर्वमंतर्नयति केवलः ।।१३।।

अर्थः—यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा अचिंत्य शक्तिका धारक है, ऐसा मैंने भले प्रकार अनुभव कर जान लिया है; क्योकि यह अकेला ही समस्त लोक-अलोकको अपनेमें प्रविष्ट कर लेता है ।

भावार्थः—जिसके ज्ञानमे अनन्तप्रदेशी लोक–अलोक दोनो प्रविष्ट हो जाते हैं—जो लोकाकाश–अलोकाकाश दोनों को स्पष्टरूपसे जानता है, ऐसा यह आत्मा है । इसलिये यह अचिंत्य शक्तिका धारक है । अन्य किसी पदार्थमें ऐसी सामर्थ्य नही जो कि इस आत्माकी तुलना कर सके ।।१३।।

स्मृतिमेति यतो नादौ पश्चादायाति किंचन ।
कर्मोदयविशेषोऽयं ज्ञायते हि चिदात्मनः ।।१४।।
विस्फुरेन्मानसे पूर्वं पश्चान्नायाति चेतसि ।
किंचिद्वस्तु विशेषोऽयं कर्मणः किं न बुध्यते ।।१५।।

अर्थः—यदि यह चैतन्यस्वरूप आत्मा किसी पदार्थका स्मरण करता है तो पहिले वह पदार्थ उसके ध्यानमे जल्दी प्रविष्ट नही होता; परन्तु एकाग्र हो जब यह बार बार ध्यान करता है तब उसका कुछ कुछ स्मरण हो आता है। इसलिये इससे ऐसा जान पडता है कि यह आत्मा कर्मोसे आवृत है। तथा पहिले ही पहिल यदि किसी पदार्थका स्मरण भी हो जाय तो उसके जरा ही विस्मरण हो जाने पर फिर बार बार स्मरण करने पर भी उसका स्मरण नही आता, इसलिये आत्मा पर कर्मोकी माया जान पड़ती है अर्थात् आत्मा कर्मके उदयसे अवनत है यह स्पष्ट जान पड़ता है।

भावार्थः—यदि शुद्धनिश्चयनयसे देखा जाय तो भूत, भविष्यत व वर्तमान तीनो कालकी पर्यायोको हाथकी रेखाके समान देखना जानना इस आत्माका स्वभाव है। तथापि यह देखनेमे आता है कि यह बहुत थोडे पदार्थोको जानता देखता है एवं पहले देखे सुने किसी एक पदार्थका स्मरण कर सकता है और किसी एक का नही। इससे स्पष्ट जान पडता है कि कोई न कोई विरोधी पदार्थ अवश्य इसकी शक्ति का रोकने वाला है और वह शुभ अशुभ कर्म ही है ॥१४–१५॥

सर्वेषामपि कार्याणां शुद्धचिद्रूपचितनं।
सुखसाध्यं निजाधीनत्वादीहामुत्र सौख्यकृत् ॥१६॥

अर्थः—संसारके समस्त कार्योमे शुद्धचिद्रूपका चितन, मनन व ध्यान करना ही सुखसाध्य–सुखसे सिद्ध होनेवाला है, क्योकि यह निजाधीन है। इसकी सिद्धिमे अन्य किसी पदार्थकी अपेक्षा नही करनी पड़ती और इससे इस लोक

और परलोक दोनों लोकोमें निराकुलतामय सुखकी प्राप्ति होती है ।।१६।।

प्रोद्यन्मोहाद् यथा लक्ष्म्यां कामिन्यां रमते च हृत् ।
तथा यदि स्वचिद्रूपे किं न मुक्तिः समीपगा ।।१७।।

अर्थः—मोहके उदयसे मत्त जीवका मन जिसप्रकार संपत्ति और स्त्रियोमे रमण करता है, उसीप्रकार यदि वही मन उनसे उपेक्षा कर शुद्धचिद्रूपकी ओर झुके—उससे प्रेम करे, तो देखते देखते ही इस जीवको मोक्षकी प्राप्ति हो जाय ।

भावार्थः—मन चाहता तो यह है कि मुझे सुख मिले; परन्तु सुखका उपाय कुछ नही करता । उल्टा महाबलवान मोहनीय कर्मके फंदेमे फँसकर कभी धन उपार्जन करता है और कभी स्त्रियोके साथ रमण करता फिरता है । यदि यह शुद्धचिद्रूपकी चिन्ता करे तो बहुत ही शीघ्र इसे मोक्षसुख मिल जाय ।।१७।।

विमुच्य शुद्धचिद्रूपचिंतनं ये प्रमादिनः ।
अन्यत् कार्यं च कुर्वंत ते पिबंति सुधां विषं ।।१८।।

अर्थः—जो आलसी मनुष्य सुख दुःख और उनके कारणोंको भले प्रकार जानकर भी प्रमादके उदयसे शुद्ध-चिद्रूपकी चिंता छोड अन्य कार्य करने लग जाते हैं, वे अमृत को छोड़कर महा दुःखदायी विषपान करते हैं । इसलिये तत्वज्ञोको शुद्धचिद्रूपका सदा ध्यान करना चाहिये ।।१८।।

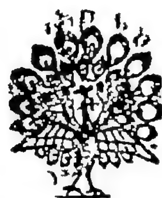
अर्थः—जिसप्रकार पथिक मनुष्य जिस गांवके मार्गको पकडकर चलता है वह उसी गांवमे पहुंचे जाता है, अन्य गांवके मार्गसे चलनेवाला अन्य गांवमें। उसीप्रकार जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपका स्मरण ध्यान करता है, वह शुद्धचिद्रूप को प्राप्त करता है और जो धन आदि पदार्थोंकी आराधना करता है, वह उनकी प्राप्ति करता है; परन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि अन्य पदार्थोंका ध्यान करे और शुद्ध-चिद्रूपको पा जाय ॥२२॥

शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिर्दुर्गमा मोहतोऽगिनां ।
तज्जयेऽत्यंत सुगमा क्रियाकांडविमोचनात् ॥२३॥

इति मुमुक्षु भट्टारक श्री ज्ञान भूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्तिसुगमत्वप्रतिपादको नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अर्थः—यह मोहनीय कर्म महाबलवान है। जो जीव इसके जालमे जकड़े है उन्हे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति दुःसाध्य है और जिन्होंने इसे जीत लिया है उन्हें तप आदि क्रियाओके बिना ही सुलभतासे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हो जाती है ॥२३॥

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञान तरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिको सुगम बतलानेवाला चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥



शुद्ध चिद्रूप की पूर्व में प्राप्ति न होनेका वर्णन करने वाला

पाँचवाँ अध्याय

रत्नानामौषधीनां वसनरसरुजामन्नधातूपलानां
स्त्रीभाश्वाना नराणां जलचरवयसां गोमहिष्यादिकानां।
नामोत्पत्त्यर्घतार्थान् विशदमतितया ज्ञातवान् प्रायशोऽहं
शुद्धचिद्रूपमात्रं कथमहह निजं नैव पूर्वं कदाचित् ॥१॥

अर्थः—मैंने पहले कई बार रत्न, औषधि, वस्त्र घी आदि रस, रोग, अन्न, सोना चांदी आदि धातु, पाषाण, स्त्री, हस्ती, घोड़े, मनुष्य, मगरमच्छ आदि जलके जीव, पक्षी और गाय भैंस आदि पदार्थोंके नाम, उत्पत्ति, मूल्य और प्रयोजन भले-प्रकार अपनी विशद बुद्धिसे जान सुन लिये हैं; परन्तु जो शुद्धचिद्रूप नित्य है, आत्मिक है उसे आज तक कभी पहिले नही जाना है।

भावार्थः—मै अनादिकालसे इस ससारमे घूम रहा हूँ। मुझसे ससारमे ऐसा कोई पदार्थ नही बचा जिसका मैंने नाम न जाना हो, उसकी उत्पत्तिके कारण, मूल्य और प्रयोजन न पहिचाने हों, परन्तु एक शुद्धचिद्रूप नामका पदार्थ ऐसा बच गया है, जिसका न मैंने कभी नाम सुना, न इसकी प्राप्तिके उपाय सोचे और न इसका प्रयोजन ही पहिचाना। इसलिये यह मेरे लिये अपूर्व पदार्थ है ॥१॥

पूर्वं मया कृतान्येव चिंतनान्यप्यनेकशः।
न कदाचिन्महामोहात् शुद्धचिद्रूपचिंतनं ॥२॥

अर्थः—पहले मैंने अनेक बार अनेक पदार्थोंका मनन ध्यान किया है; परन्तु पुत्र स्त्री आदिके मोहसे मूढ हो, शुद्ध-चिद्रूपका कभी आज तक चिंतवन न किया ॥२॥

अनंतानि कृतान्येव मरणानि मयापि न ।
कुत्रचिन्मरणे शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृत ॥३॥

अर्थः—मैं अनन्तबार अनन्तभवोमें मरा; परन्तु मृत्युके समय "मैं शुद्धचिद्रूप हूँ" ऐसा स्मरण कर कभी न मरा ॥३॥

सुरद्रुमा निधानानि चिंतारत्नं द्युसद्गवी ।
लब्धा च न परं पूर्वं शुद्धचिद्रूप सपदा ॥४॥

अर्थः—मैने कल्पवृक्ष, खजाने, चिन्तामणि रत्न और कामधेनु प्रभृति लोकोत्तर अनन्य लभ्य विभूतियां प्राप्त कर ली; परंतु अनुपम शुद्धचिद्रूप नामकी सपत्ति आज तक कही न पाई ॥४॥

द्रव्यादिपंचधा पूर्वं परावर्त्ता अनंतशः ।
कृतास्तेष्वेकशो न स्वं स्वरूपं लब्धवानहं ॥५॥

अर्थः—मैने अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण किया । इसमे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव नामक पाचों परिवर्तन भी अनेक बार पूरे किये; परन्तु स्वस्वरूप शुद्ध-चिद्रूपकी प्राप्ति मुझे आज तक एक बार भी न हुई ॥५॥

इंद्रादीनां पदं लब्धं पूर्वं विद्याधरेशिनां ।
अनंतशोऽहमिद्रस्य स्वस्वरूपं न केवलं ॥६॥

अर्थः—मैने पहिले अनेक बार इन्द्र, नृपति आदि उत्तमोत्तम पद भी प्राप्त किये। अनन्तबार विद्याधरोंका स्वामी और अहमिंद्र भी हुआ, परन्तु आत्मिकरूप-शुद्ध-चिद्रूपका लाभ न कर सका ॥६॥

मध्ये चतुर्गतीनां च बहुशो रिपवो जिताः।
पूर्वं न मोहप्रत्यर्थो स्वस्वरूपोपलब्धये ॥७॥

अर्थः—नरक, मनुष्य, तिर्यंच और देव चारों गतियोंमे भ्रमणकर मैंने अनेक बार शत्रुओंको जीता; परन्तु शुद्धचिद्-रूपकी प्राप्तिके लिये उसके विरोधी महाबलवान मोह रूपी वैरीको कभी नहीं जीता ॥७॥

मया निःशेषशास्त्राणि व्याकृतानि श्रुतानि च।
तेभ्यो न शुद्धचिद्रूपं स्वीकृतं तीव्रमोहिना ॥८॥

अर्थः—मैंने संसारमे अनंतबार कठिनसे कठिन भी अनेक शास्त्रोंका व्याख्यान कर डाला और बहुतसे शास्त्रोंका श्रवण भी किया; परन्तु मोहसे मूढ हो उनमें जो शुद्धचिद्रूप का वर्णन है, उसे कभी स्वीकार न किया ॥८॥

वृद्धसेवा कृता विद्वन्महतां सदसि स्थितः।
न लब्धं शुद्धचिद्रूपं तत्रापि भ्रमतो निजं ॥९॥

अर्थः—इस संसारमें भ्रमण कर मैंने कई बार वृद्धोंकी सेवा की व विद्वानोंकी बड़ी बडी सभाओंमें भी बैठा; परन्तु अपने आत्मिक स्वरूप-शुद्धचिद्रूपका कभी मैंने लाभ न किया ॥९॥

मानुष्यं बहुशो लब्धमार्ये खंडे च सत्कुलं ।
आदिसंहननं शुद्धचिद्रूपं न कदाचन ॥१०॥

अर्थ.—मैं आर्यखंडमें बहुतबार मनुष्य हुआ, कई बार उत्तम कुलमें भी जन्म पाया, परन्तु वज्रवृषभनाराच संहनन और शुद्धचिद्रूप की मुझे कभी भी प्राप्ति न हुई ॥१०॥

शौचसंयमशीलानि दुर्धराणि तपांसि च ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानमंतरा धृतवानहं ॥११॥

अर्थः—मैंने अनंतबार शौच, संयम व शीलोको धारण किया, भांति भांतिके घोरतम तप भी तपे; परन्तु शुद्धचिद्रूप का कभी स्मरण नहीं किया ॥११॥

एकेंद्रियादिजीवेषु पर्यायाः सकलाधृताः ।
अजानता स्वचिद्रूपं परस्पर्शादि जानता ॥१२॥

अर्थः—मै अनेक बार एकेंद्रिय, दोइंद्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय हुआ । एकेन्द्रिय आदिमें वृक्ष आदि अनत पर्यायोको धारण किया, दूसरेके स्पर्श, रस, गंध आदि को भी जाना, परन्तु स्वस्वरूपचिद्रूपको आज तक न पाया, न पहिचाना ॥१२॥

ज्ञातं दृष्टं मया सर्वं सचेतनमचेतनं ।
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं न कदाचिच्च केवलं ॥१३॥

अर्थः—मैंने संसारमे चेतन-अचेतन समस्त पदार्थोंको भले प्रकार देखा, जाना; परन्तु केवल शुद्धचिद्रूप नामका एक पदार्थ ऐसा बाकी बच गया जिसे कभी मैने न जाना न देखा ॥१३॥

लोकज्ञाति श्रुतसुरनृपति श्रेयसां भामिनीनां
यत्यादीनां व्यवहृतिमखिलां ज्ञातवान् प्रायशोऽहं ।
क्षेत्रादीनामशकलजगतो वा स्वभावं च शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं ध्रुवमिति न कदा संसृतौ तीव्रमोहात् ।।१४।।

अर्थः—संसारमें लोक, ज्ञाति, शास्त्र, देव और राजाओंकी विभूतियोंको, स्त्रियों और मुनि आदिके समस्त व्यवहारको कई बार मैंने जाना, क्षेत्र, नदी, पर्वत आदि खंड खंड और समस्त जगतके स्वभावको भी पहिचाना परन्तु मोहकी तीव्रतासे "मैं शुद्धचिद्रूप हूँ" इस बातको मैं निश्चय रूपसे कभी न जान पाया ।

भावार्थ.—देखनेमें आता है कि संसारमे प्रायः मनुष्य, लोककी विभूति और जाति आदिके गौरवको उत्तम समझते हैं और उसीको हितकारी मान उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हैं परन्तु मैंने इन सबको भले प्रकार जान देख और प्राप्त कर लिया किन्तु अभी तक मुझे केवल शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति कभी नहीं हुई ।।१४।।

शीतकाले नदीतीरे वर्षाकाले तरोरधः ।
ग्रीष्मे नगशिरोदेशे स्थितो न स्वे चिदात्मनि ।।१५।।

अर्थः—बहुत बार मैं शीतकालमे नदीके किनारे, वर्षा कालमे वृक्षके नीचे और ग्रीष्म ऋतुमे पर्वतकी चोटियों पर स्थित हुआ, परन्तु अपने चैतन्यस्वरूप आत्मामे मैंने कभी स्थिति न की ।।१५।।

विहितो विविधोपायैः कायक्लेशो महत्तमः ।
स्वर्गादिकांक्षया शुद्धं स्वस्वरूपमजानता ।।१६।।

अर्थः—"मुझे स्वर्ग आदि सुखकी प्राप्ति हो" इस अभिलाषा से मैंने अनेक प्रयत्नोसे घोरतम भी कायक्लेश तप भी तपे परन्तु शुद्धचिद्रूप की ओर जरा भी ध्यान न दिया—स्वर्ग चक्रवर्ती आदिके सुखके सामने मैंने शुद्धचिद्रूप सुखको तुच्छ समझा ।।१६।।

अधीतानि च शास्त्राणि बहुवारमनेकशः ।
मोहतो न कदा शुद्धचिद्रूपप्रतिपादकं ।।१७।।

अर्थः—मैंने बहुत बार अनेक शास्त्रोको पढा परन्तु मोह से मत्त हो शुद्धचिद्रूपका स्वरूप समझानेवाला एक भी शास्त्र न पढ पाया ।।१७।।

न गुरुः शुद्धचिद्रूपस्वरूपप्रतिपादकः ।
लब्धो मन्ये कदाचित्त विनाऽसौ लभ्यते कथं ।।१८।।

अर्थः—शुद्धचिद्रूपका स्वरूप प्रतिपादन करनेवाला आज तक मुझे कोई गुरु भी न मिला और जब गुरु ही कभी न मिला तब शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हो ही कहाँ सकती थी । अर्थात् बिना शुद्धचिद्रूपके स्वरूपके मर्मज्ञ गुरुके शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति सर्वथा दुःसाध्य है ।।१८।।

सचेतने शुभे द्रव्ये कृता प्रीतिरचेतने ।
स्वकीये शुद्धचिद्रूपे न पूर्वं मोहिना मया ।।१९।।

अर्थ.—अतिशय मोही होकर मैंने सजीव शुभद्रव्योमे प्रीति की, अचेतन द्रव्योको भी प्रीतिका करनेवाला माना परन्तु आत्मिक शुद्धचिद्रूपमे कभी प्रेम न किया।

भावार्थः—मुनि आदि शुभ चेतनद्रव्योमे और भगवान की प्रतिमा आदि शुभ अचेतन द्रव्योमे मैंने गाढ प्रेम किया परन्तु ये परद्रव्य होनेसे मेरी अभीष्ट सिद्धि न कर सके क्योकि मेरे अभीष्टकी सिद्धि आत्मिक शुद्धचिद्रूपमे प्रेम करनेसे ही हो सकती थी, सो उसमे मैंने कभी प्रेम न किया ॥१९॥

दुष्कराण्यपि कार्याणि हा शुभान्यशुभानि च।
बहूनि विहितानीह नैव शुद्धात्मचिंतनं ॥२०॥

अर्थः—इस ससारमे मैंने कठिनसे कठिन भी शुभ और अशुभ कार्य किये परन्तु आजतक शुद्धचिद्रूपकी कभी चिंता न की ॥२०॥

पूर्वं या विहिता क्रियाकिल महामोहोदयेनाखिला
मूढत्वेन मयेह तत्रमहतीं प्रीतिं समातन्वता।
चिद्रूपाभिरतस्य भाति विषवत् सा मंदमोहस्य मे
सर्वस्मिन्नधुना निरीहमनसोऽतोधिग् विमोहोदयं ॥२१॥

अर्थः—सासारिक बातोमे अतिशय प्रीतिको करानेवाले मोहनीय कर्मके उदयसे मूढ बन जो मैंने पहिले समस्त कार्य किये हैं वे इस समय मुझे विष सरीखे दुःखदायी जान पड रहे हैं; क्योकि इस समय मैं शुद्धचिद्रूपमे लीन हो गया हूँ। मेरा मोह मद होगया है और सब बातोसे मेरी इच्छा हट

गई है, इसलिये इस मोहनीय कर्मके उदयके लिये सर्वथा धिक्कार है।

भावार्थः—जब तक मैं मूढ था हित और अहितको जरा भी नही पहिचानता था तब तक मोहके उदयसे मैं जिस कामको करता था उसे बहुत अच्छा मानता था परन्तु जब मै शुद्धचिद्रूपमे लीन हुआ, मेरा मोह मंद हुआ, और समस्त ऐहिक पदार्थोंसे मेरी इच्छा हटी तो मोहके उदयसे किये वे समस्त कार्य मुझे विष सरीखे मालूम होने लगे—जरा भी उनमे मेरा प्रेम न होने लगा इसलिये इस मोहनीय कर्मके लिये सर्वथा धिक्कार है ।।२१।।

व्यक्ताव्यक्तविकल्पानां वृन्दैरापूरितो भृशं ।
लब्धस्तेनावकाशो न शुद्धचिद्रूप चिंतने ।।२२।।

इति मुमुक्षुभट्टारकज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञान तरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपस्य पूर्वालब्धिप्रतिपादकः पंचमोऽध्यायः ।।५।।

अर्थः—व्यक्त और अव्यक्त दोनो प्रकारके विकल्पोसे मैं सदा भरा रहा, कभी मैं अपने संकल्प विकल्पोको दूसरेके सामने प्रगट करता रहा और कभी मेरे मनमे ही वे टकरा कर नष्ट होते रहे इसलिये आजतक मुझे शुद्धचिद्रूपके चिंतवन करनेका कभी भी अवकाश न मिला ।।२२।।

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारकज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्वज्ञान तरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी पूर्वमें प्राप्ति न होनेका वर्णन करनेवाला पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।।५।।



शुद्ध चिद्रूप के स्मरण करने की निश्चलता को बतलाने वाला

छठा अध्याय

जानंति ग्रहिलं हतं ग्रहगणैर्ग्रस्तं पिशाचैरुजा
मग्नं भूरि परीषहैर्विकलतां नीतं जराचेष्टितं ।
मृत्यासन्नतया गत विकृतितां चेद् भ्रांतिमंतं परे
चिद्रूपोऽहमिति स्मृतिप्रवचनं जानंतु मामंगिनः ।।१।।

अर्थ'—चिद्रूपकी चिन्तामे लीन मुझे अनेक मनुष्य–बावला, खोटे ग्रहोसे अस्त व्यस्त, पिशाचोसे ग्रस्त, रोगोंसे पीडित, भाति भातिकी परीषहोसे विकल, वुड्ढा, बहुत जल्दी मरनेवाला होनेके कारण विकृत और ज्ञान शून्य हो घूमने वाला जानते हैं सो जानो परन्तु मैं ऐसा नही हूँ क्योकि मुझे इस बातका पूर्ण निश्चय है कि मैं शुद्धचित्स्वरूप हूँ ।

भावार्थ।—मैं शुद्धचित्स्वरूप हूँ ऐसा पूर्ण निश्चय हो जानेसे जब मै उसकी प्राप्तिके लिये उपाय करता हूँ और ऐहिक कृत्योसे सबध छोड देता हूँ उस समय बहुतसे मनुष्य मुझे उदासीन जान पागल कहते हैं । कोई कहता है इस पर खोटे ग्रहोने कोप किया है । बहुतसे कहते हैं यह किसी पिशाच के झपट मे आ गया है । अनेक कहते हैं इसे कुछ रोग हो गया है । बहुतसे कहते हैं परीषह सहते सहते यह व्याकुल हो गया है । एक कहता है अजी यह बुड्ढा हो गया है इसलिये इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है दूसरा कहता है अजी इसकी मृत्यु बिलकुल समीप है इसलिये इसे कुछ विकार हो गया है और अनेक कहते हैं यह व्यर्थ मुंह उठाये घूमता फिरता है

परन्तु मेरा ऐसा कहनेसे कोई नुकसान नही क्योंकि ये मनुष्य अज्ञानी हैं—हित अहितको जरा भी न पहिचाननेवाले हैं। मुझे तो इस बातका पूर्ण निश्चय है, कि मै शुद्धचैतन्यस्वरूप हूँ ॥१॥

उन्मत्तं भ्रांतियुक्तं गतनयनयुगं दिग्विमूढं च सुप्तं
निश्चित प्राप्तमूर्च्छं जलवहनगतं बालकावस्थमेतत् ।
स्वस्याधीनं कृतं वा ग्रहिलगतिगतं व्याकुलं मोहधूर्त्तैः
सर्वं शुद्धात्मदृग्भीरहितमपि जगद् भाति भेदज्ञचित्ते ॥२॥

अर्थः—जिस समय स्व और परका भेद विज्ञान हो जाता है उस समय शुद्धात्मदृष्टिसे रहित यह जगत चित्तमे ऐसा जान पड़ने लगता है मानो यह उन्मत्त और भ्रान्त है। इसके दोनो नेत्र बन्द हो गये हैं यह दिग्विमूढ हो गया है। गाढ निद्रामे सो रहा है। मन रहित असैनी मूर्च्छासे बेहोश और जलके प्रवाहमे बहा चला जा रहा है। बालकके समान अज्ञानी है। मोहरूपी धूर्तोंने व्याकुल बना दिया है। बावला और अपना सेवक बना लिया है।

भावार्थ.—यदि शुद्धात्मदृष्टिसे देखा जाय तो वास्तवमे यह जगत उन्मत्त, भ्रान्त, मूर्च्छित, सुप्त और आकुलित आदि है और स्व परके ज्ञान होनेसे यह ऐसा ही भासने लगता है सो ठीक भी है क्योकि भेदविज्ञानीका लक्ष्य शुद्धचिद्रूपकी ओर रहता है और ससार अपने अपने अभीष्ट लक्ष्यको लेकर काम करता है आपसमे दोनोका विरोध है इसलिये भेद विज्ञानीको ससारकी स्थिति अवश्य ही विपरीत जान पड़नी चाहिये ॥२॥

स्त्रीणां भर्त्ता बलानां हरय इव धरा भूपतीनां स्ववत्सो
धेनूनां चक्रवाक्या दिनपतिरतुलश्चात कानां घनार्णः ।
कासाराद्यब्धराणाममृतमिव नृणां वा निजोकः सुराणां
वैद्यो रोगातुराणां प्रियइव हृदिमे शुद्धचिद्रूपनामा ॥३॥

अर्थः—जिसप्रकार स्त्रियोको अपना स्वामी, बलभद्रोको नारायण, राजाओको पृथ्वी, गौओको बछडे, चकवियोको सूर्य, चातकोको मेघका जल, जलचर आदि जीवोको तालाब आदि, मनुष्योंको अमृत, देवोको स्वर्ग और रोगियोको वैद्य अधिक प्यारा लगता है उसीप्रकार मुझे शुद्धचिद्रूपका नाम परमप्रिय मालूम होता है इसलिये मेरी यह कामना है कि मेरा प्यारा यह शुद्धचिद्रूप सदा मेरे हृदयमे विराजमान रहे ॥३॥

शाप वा कलयंति वस्तुहरणं चूर्णं वधं ताडनं
छेदं भेदगदादिहास्यदहनंनिंदाऽऽपदापीडनं ।
पव्यग्न्यब्ध्यगपककूपवनभूक्षेपापमान भयं
केचिच्चेत् कलयंतु शुद्धपरम ब्रह्मस्मृता वन्वहं ॥४॥

अर्थः—जिस समय मैं शुद्धचिद्रूपके चिंतवनमे लीन होऊँ उस समय दुष्ट मनुष्य यदि मुझे निरतर शाप देवें–दो, मेरी चीज चुराये–चुराओ, मेरे शरीरके टुकड़े टुकडे करें, ताडे, छेदे, मेरे रोग उत्पन्न कर हँसी करे, जलावें, निन्दा करें, आपत्ति और पीडा करें-करो, सिर पर वज्र डाले-डालो, अग्नि, समुद्र, पर्वत, कीचड़, कुँआ, वन और पृथ्वी पर फेंके–फेंको, अपमान और भय करें–करो, मेरा कुछ भी बिगाड नही हो

सकता अर्थात् वे मेरी आत्माको किसी प्रकार भी हानि नही पहुचा सकते ॥४॥

चदार्कभ्रमवत्सदा सुरनदी धारौघसंपातव-
न्लोकेस्मिन् व्यवहारकालगतिवद्द्रव्यस्यपर्यायवत् ।
लोकाधस्तलवातसंगमनवत् पद्मादिकोद्भूतिवत्
चिद्रूपस्मरणं निरंतरमहो भूयाच्छिवाप्त्यैमम ॥५॥

अर्थः— जिस प्रकार संसारमे सूर्य-चन्द्रमा निरंतर घूमते रहते है, गगा नदीकी धार निरतर बहती रहती है, घटा, घड़ी, पल आदि व्यवहार कालका भी सदा हेर फेर होता रहता है, द्रव्योकी पर्याये सदा पलटती रहती हैं, लोकके अधोभागमे घनवात, तनुवात और अबुवात ये तीनो बाते सदा घूमती रहती है और तालाब आदिमे पद्म आदि सदा उत्पन्न होते रहते है, उसीप्रकार मेरे मनमें भी सदा शुद्धचिद्रूपका स्मरण बना रहे जिससे मेरा कल्याण हो ॥५॥

इति हृत्कमले शुद्धचिद्रूपोऽहं हि तिष्ठतु ।
द्रव्यतो भावतस्तावद् यावदगे स्थितिर्मम ॥६॥

अर्थः—जब तक मै (आत्मा) द्रव्य या भाव किसी रीतिसे इस शरीरमे मौजूद हूँ, तब तक मेरे हृदय कमलमे शुद्धचिद्रूपोऽह (मैं शुद्धचित्स्वरूप हूँ) यह बात सदा स्थित रहे । रक्त, मज्जा आदि धातुओका पिंडस्वरूप द्रव्य शरीर है और वह मेरा है ऐसा संकल्प—भाव शरीर है ॥६॥

दृश्यतेऽतीव निःसाराः क्रिया वागंगचेतसां ।
कृतकृत्यत्वतः शुद्धचिद्रूपं भजता सता ॥७॥

अर्थः— मैं कृतकृत्य हो चुका हूं—संसारमें मुझे करनेके लिये कुछ भी काम बाकी नहीं रहा है क्योंकि मैं शुद्धचिद्रूप के चिंतवनमें दत्तचित्त हूँ इसलिये मन वचन और शरीरकी अन्य समस्त क्रियायें मुझे अत्यन्त निस्सार मालूम पड़ती हैं उनमें कोई सार दृष्टिगोचर नहीं होता ॥७॥

किंचित्क्वचोत्तमं क्वापि न यतो नियमात्मनः ।
तस्मादनंतशः शुद्धचिद्रूपाय प्रतिक्षणं ॥८॥

अर्थः— किसी काल और देशमें शुद्धचिद्रूपसे बढ़कर कोई भी पदार्थ उत्तम नहीं है ऐसा मुझे पूर्ण निश्चय है, इसलिये मैं इस शुद्धचिद्रूपके लिये प्रतिसमय अनन्त बार नमस्कार करता हूं ॥८॥

बाह्यांतः संगमंगं नृसुरपतिपदं कर्मबंधादिभावं
विद्याविज्ञान शोभाबलभवखसुखं कीर्तिरूपप्रतापं ।
राज्यागाख्यागकालास्रवकुपरिजन वाग्मनोयानधीद्धा-
तीर्थेशत्वं ह्यनित्यं स्मर परमचलं शुद्धचिद्रूपमेकं ॥९॥

अर्थः—बाह्य अभ्यंतर परिग्रह, शरीर, सुरेन्द्र और नरेन्द्रका पद, कर्मबन्ध आदि भाव, विद्या, विज्ञान-कला-कौशल, शोभा, बल, जन्म, इन्द्रियोंका सुख, कीर्ति, रूप, प्रताप, राज्य, पर्वत, वृक्ष, नाम, काल, आस्रव, पृथ्वी, परिवार, वाणी, मन, वाहन, बुद्धि, दीप्ति और तीर्थंकरपना आदि सब पदार्थ चलायमान अनित्य हैं, परन्तु केवल शुद्धचिद्रूप नित्य है और सर्वोत्तम है, इसलिये सब पदार्थोंका ध्यान छोड़कर इसीका ध्यान करो ।

भावार्थः—जो पदार्थ सदा अपने साथ रहे उसीका ध्यान करना आवश्यक है और उचित है, विनाशीक पदार्थोंके ध्यान करनेसे क्या प्रयोजन ? क्योंकि वह तो अपनी अवधिके अन्तमे नियमसे नष्ट हो जायेगे इसलिये उनका ध्यान करना व्यर्थ है और शुद्धचिद्रूप नित्य अविनाशी है इसलिये उसीका ध्यान करना कार्यकारी है ॥९॥

रागाद्या न विधातव्याः सत्यसत्यपि वस्तुनि ।
ज्ञात्वा स्वशुद्धचिद्रूपं तत्र तिष्ठ निराकुलः ॥१०॥

अर्थः—शुद्धचिद्रूपके स्वरूपको भले प्रकार जानकर भले बुरे किसी भी पदार्थमे रागद्वेष आदि न करो सबमे समता भाव रखो और निराकुल हो अपनी आत्मामे स्थिति करो ॥१०॥

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः ।
भवक्षितिर्हितं मुक्तिर्निर्यासोऽयं जिनागमे ॥११॥

अर्थः—'मैं शुद्धचिद्रूप हूँ' इसलिये मै उसको देखता हूं और उसीसे मुझे सुख मिलता है । जैन शास्त्रका भी यही निचोड है । उसमें भी यही बात बतलाई है कि शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे ससारका नाश और हितकारी मोक्ष प्राप्त होता है ॥११॥

चिद्रूपे केवले शुद्धे नित्यानंदमये यदा ।
स्वे तिष्ठति तदा स्वस्थं कथ्यते परमार्थतः ॥१२॥

अर्थः—आत्मा स्वस्थ-स्वरूप उसी समय कहा जाता है जबकि वह सदा आनन्दमय केवल अपने शुद्धचिद्रूपमें

स्थिति करता है । अन्य पदार्थोमे स्थित रहने पर उसे स्वमे स्थित स्वस्थ कहना भ्रम है ।

भावार्थः—स्वस्थका अर्थ (स्वस्मिन् तिष्ठतीति) अपनेमें स्थित रहनेवाला होता है । संसारमे सिवाय शुद्धचिद्रूपके अन्य कोई भी पदार्थ आत्माका अपना स्व नही, इसलिये सदा आनदमय केवल शुद्धचिद्रूपमे स्थित रहना ही स्वस्थपना है, किन्तु स्वर्ग देवेन्द्र आदि पदोमे विद्यमान आत्माको स्वस्थ नही कह सकते ।।१२।।

निश्चलः परिणामोऽस्तु स्वशुद्धचिति मामकः ।
शरीरमोचन यावदिव भूमौ सुराचलः ।।१३।।

अर्थः—जिसप्रकार पृथ्वीमे मेरु पर्वत निश्चलरूपसे गढा हुआ है जरा भी उसे कोई हिला चला नही सकता उसीप्रकार मेरी भी यही कामना है कि जब तक इस शरीर का सबध नही छूटता तब तक इसी आत्मिक शुद्धचिद्रूपमे मेरा भी परिणाम निश्चलरूपसे स्थित रहे जरा भी इधर उधर न भटके ।।१३।।

सदा परिणतिर्मेऽस्तु शुद्धचिद्रूपकेऽचला ।
अष्टमीभूमिकामध्ये शुभा सिद्धशिला यथा ।।१४।।

अर्थः— जिसप्रकार आठवी पृथ्वी मोक्षमे, अत्यन्त शुभ सिद्धशिला निश्चलरूपसे विराजमान है उसीप्रकार मेरे मन की परिणति भी इस शुद्धचिद्रूपमे निश्चलरूपसे स्थित रहे ।।१४।।

चलंति सन्मुनींद्राणां निर्मलानि मनांसि न ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानात् सिद्धक्षेत्राच्छिया यथा ।।१५।।

अर्थः—जिस प्रकार कल्याणकारी सिद्धक्षेत्रसे सिद्ध भगवान् किसी रीतिसे चलायमान नही हो सकते उसीप्रकार उत्तम मुनियोके निर्मल मन भी शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे कभी चल विचल नही हो सकते ।।१५।।

मुनीश्वरैस्तथाभ्यासो दृढः सम्यग्विधीयते ।
मानसं शुद्धचिद्रूपे यथाऽत्यंतं स्थिरीभवेत् ।।१६।।

अर्थः—मुनिगण इस रूपसे शुद्धचिद्रूपके ध्यानका दृढ़ अभ्यास करते है कि उनका मन शुद्धचिद्रूपके ध्यानमे सदा निश्चलरूपसे स्थित बना रहे, जरा भी इधर उधर चल विचल न हो सके ।।१६।।

सुखे दुःखे महारोगे क्षुधादीनामुपद्रवे ।
चतुर्विधोपसर्गे च कुर्वे चिद्रूपचिंतनं ।।१७।।

अर्थः—सुख दुःख, उग्र रोग और भूख प्यास आदिके भयंकर उपद्रवोमे तथा मनुष्यकृत, देवकृत, तिर्यंचकृत और अचेतनकृत चारो प्रकारके उपसर्गोंमे मैं शुद्धचिद्रूपका ही चिन्तवन करता रहूँ, मुझे उनके उपद्रवसे उत्पन्न वेदनाका जरा भी अनुभव न हो ।।१७।।

निश्चलं न कृतं चित्तमनादौ भ्रमतो भवे ।
चिद्रूपे तेन सोढानि महादुखान्यहो मया ।।१८।।

अर्थः—इस संसारमें मैं अनादिकालसे घूम रहा हूँ। हाय ! मैंने कभी भी शुद्धचिद्रूपमें अपना मन निश्चलरूपसे न लगाया इसलिये मुझे अनन्त दुःख भोगने पड़े अर्थात् यदि

मैं संसारके कार्योंसे अपना मन हटाकर शुद्धचिद्रूपमे लगाता तो क्यो मुझे अपार वेदना सहनी पड़ती ।।१८।।

ये याता यांति यास्यति निर्वृ ति पुरुषोत्तमाः ।
मानसं निश्चलं कृत्वा स्वे चिद्रूपे न संशयः ।।१९।।

अर्थः—जो पुरुषोत्तम—महात्मा मोक्ष गये या जा रहे हैं और जावेगे इसमे कोई सदेह नही कि उन्होने अपना मन शुद्धचिद्रूपके ध्यानमे निश्चलरूपसे लगाया, लगाते हैं और लगावेंगे ।

भावार्थः—विना शुद्धचिद्रूपके ध्यानमे चित्त लगाये मोक्ष कदापि नही मिल सकता, इसलिये जिन्होने शुद्धचिद्रूप मे अपना मन लगाया वे मोक्ष गये, मन लगा रहे हैं वे जा रहे हैं और जो मन लगावेंगे वे अवश्य जावेंगे इसमे किसी प्रकार का सदेह नही ।।१९।।

निश्चलोऽगी यदा शुद्धचिद्रूपोऽहमिति स्मृतौ ।
तदैव भावमुक्ति स्यात्क्रमेण द्रव्यमुक्ति भाग् ।।२०।।

इतिमुमुक्षुभट्टारक ज्ञानभूषणविरचितानां तत्वज्ञान तरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपस्मरणनिश्चलता प्रतिपादको नाम षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

अर्थः—जिस समय निश्चलमनसे यह स्मरण किया जाता है कि 'मैं शुद्धचित्रूप हू' भाव-मोक्ष उसी समय हो जाता है और द्रव्य-मोक्ष क्रम क्रमसे होता चला जाता है ।

भावार्थः—स्व और पर पदार्थोंका भेद विज्ञान होना भाव-मोक्ष है और शरीर आदिसे सर्वथा रहित हो सिद्धशिला

शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेके लिये नयोंके आश्रय को वर्णन करने वाला

सातवाँ अध्याय

न यामि शुद्धचिद्रूपे लयं यावदहं दृढं ।
न मुंचामि क्षणं तावद् व्यवहारावलंबनं ।।१।।

अर्थ.—जब तक मैं दृढरूपसे शुद्धचिद्रूपमे लीन न हो जाऊं तब तक मैं व्यवहारनयका सहारा नही छोड सकता—व्यवहारनयको अवश्य काममे लाऊंगा ।

भावार्थः—जब तक 'मैं शुद्धचित्स्वरूप हूं' ऐसा मुझे भलेप्रकार ज्ञान नही होता तब तक निश्चय व्यवहार दोनो ही नय कार्यकारी हैं, उसके ज्ञानके पहिले किसी एक नयसे कार्य चला ले यह कदापि नही हो सकता; परन्तु जिस समय वास्तविक शुद्धचिद्रूपका ज्ञान हो जाय उस समय व्यवहारनय माननेकी कोई आवश्यकता नही; क्योकि व्यवहारनयसे जप तप आदि करनेसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति और उसमें लीनता होती है । व्यवहारनय शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमे कारण है, इसलिये शुद्धचिद्रूपमे बिना लीनता हुये व्यवहारनयका सर्वथा त्याग कर देना नितान्त मिथ्यात्व है ।।१।।

अशुद्धं किल चिद्रूपं लोके सर्वत्र दृश्यते ।
व्यवहारनयं श्रित्वा शुद्धं बोधदृशा क्वचित् ।।२।।

अर्थः—व्यवहारनयके अवलम्बनसे सर्वत्र ससारमे अशुद्ध ही चिद्रूप दृष्टिगोचर होता है निश्चयनयसे शुद्ध तो कही किसी आत्मामे दीखता है ।

भावार्थः—व्यवहारनयके अवलंबनसे चिद्रूप कभी शुद्ध हो ही नहीं सकता किन्तु शुद्धनिश्चयके अवलंबनसे ही वह शुद्ध हो सकता है इसलिये शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषियोको चाहिये कि वे व्यवहारनयके साथ शुद्धनिश्चयनयकी ओर विशेषरूपसे अपनी दृष्टिको लगावें ॥२॥

चिद्रूपे तारतम्येन गुणस्थानाच्चतुर्थतः ।
मिथ्यात्वाद्युदयाद्यख्यमलापायाद् विशुद्धता ॥३॥

अर्थः—गुणस्थानोमे चढ़नेवाले जीवोको चौथे गुणस्थानसे मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और अनंतानुवंधी क्रोध, मान, माया और लोभरूप मलोका ज्यों ज्यों नाश होता जाता है वैसा ही वैसा चिद्रूप भी विशुद्ध होता चला जाता है—बिना मिथ्यात्व आदि मलोंके नाश किये चिद्रूप कभी विशुद्ध नही हो सकता ॥३॥

मोक्षस्वर्गार्थिनां पुंसां तात्त्विकव्यवहारिणां ।
पंथाः पृथक् पृथक् रूपो नागरागारिणामिव ॥४॥

अर्थः—जिसप्रकार जुदे जुदे नगरके जाने वाले पथिकों के मार्ग जुदे जुदे होते है उसीप्रकार जो व्यवहारका कार्य समाप्त कर निश्चयकी ओर झुकने वाले हैं और मोक्ष जाना चाहते हैं उनका मार्ग भिन्न है और जो व्यवहार मार्गके अनुयायी है और स्वर्ग जाना चाहते हैं उनका मार्ग भिन्न है ॥४॥

चिंताक्लेशकषायशोकवहुले देहादिसाध्यात्परा-
धीने कर्मनिबंधनेऽतिविषमे मार्गे भयाशान्विते ।

व्यामोहे व्यवहारनामनि गतिं हित्वात्मन् सदा
शुद्धे निश्चयनामनीह सुखदेऽमुत्रापि दोषोज्झिते ॥५॥

अर्थः—हे आत्मन् ! यह व्यवहार मार्ग चिन्ता, क्लेश, कषाय और शोकसे जटिल है। देह आदि द्वारा साध्य होनेसे पराधीन है। कर्मोंके लानेमे कारण है। अत्यन्त विकट, भय और आशासे व्याप्त है और व्यामोह करानेवाला है; परन्तु शुद्धनिश्चयनयरूप मार्गमे यह कोई विपत्ति नही है, इसलिये तू व्यवहारनयको त्यागकर शुद्धनिश्चयनयरूप मार्गका अवलंबन कर; क्योकि यह इस लोककी क्या बात ? परलोक मे भी सुखका देनेवाला है और समस्त दोषोंसे रहित निर्दोष है।

भावार्थ.—व्यवहारनयरूप मार्गमे गमन करनेसे नाना प्रकारकी चिताओंका भाति भातिके क्लेश, कषाय और शोकोंका सामना करना पड़ता है। उसमें देह, इन्द्रिया और मन आदिकी आवश्यकता पडती है, इसलिये वह पराधीन है। शुभ-अशुभ दोनो प्रकारके कर्म भी व्यवहारनय के अवलंबनसे हो आते हैं। अत्यन्त विषम हैं। उसके अनुयायी पुरुषोको नानाप्रकारके भय और आशाओसे उत्पन्न दुःख भोगने पड़ते हैं और भ्रान्त होना पडता है; परन्तु शुद्ध निश्चयनयरूप मार्गमे गमन करनेसे चिन्ता, क्लेश आदि नही भोगने पडते, वह स्वाधीन है—उसमे शरीर आदिकी आवश्यकता नही पडती। उसके अवलंबनसे किसी प्रकारके कर्मका भी आस्रव नही होता। वह विकट, भय और आशाजन्य दु:ख भी नही भुगाता एवं व्यामुग्ध भी नही करता,

इस पर भी दोनों लोकमें सुख देनेवाला और निर्दोष है, इसलिये ऐसे भयंकर व्यवहार मार्गका त्याग कर सर्वोत्तम निश्चय मार्गसे ही गमन करना चाहिये ॥५॥

न भक्तवृंदैर्न च शिष्यवर्गैर्न पुस्तकाद्यैर्न च देहमुख्यैः ।
न कर्मणा केन ममास्ति कार्यं विशुद्धचित्यस्तु लयः सदैव ॥६॥

अर्थः— मेरा मन शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये उत्सुक है, इसलिये न तो ससारमें मुझे भक्तोंकी आवश्यकता है, न शिष्यवर्ग, पुस्तक, देह आदिसे ही कुछ प्रयोजन है एव न मुझे कोई काम करना ही अभीष्ट है। केवल मेरी यही कामना है कि मेरी परिणति सदा शुद्धचिद्रूपमे ही लीन रहे। सिवाय शुद्धचिद्रूपके, बाह्य किसी पदार्थमें जरा भी न जाय ॥६॥

न चेतसा स्पर्शमहं करोमि सचेतनाचेतनवस्तुजाते ।
विमुच्य शुद्धं हि निजात्मतत्त्वं क्वचित्कदाचित्कथमप्यवश्यं ॥७॥

अर्थः—मेरी यह कामना है कि शुद्धचिद्रूप नामक पदार्थको छोडकर मैं किसी भी चेतन या अचेतन पदार्थका किसी देश या किसी कालमे कभी भी अपने मनसे स्पर्श न करूं।

भावार्थः—मैं जब किसी पदार्थका चितवन करूं तो शुद्धचिद्रूपका ही करूं। शुद्धचिद्रूपसे अतिरिक्त किसी पदार्थका चाहे वह चेतन–अचेतन कैसा भी हो, कभी किसी कालमे भी न करूं ॥७॥

भावार्थः— जब तक शुद्धचिद्रूपका ध्यान करे तव तक व्यवहारनयका सहारा रखे; किन्तु जिस समय उसके ध्यानमे पूर्णरूपसे लीन हो जाय—चल विचल परिणाम होनेका भय न रहे, उस समय सर्वथा व्यवहारनयका सहारा छोड़ दे ॥१३–१४॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यान पर्वतादवरोहणं ।
यदान्यकृतये कुर्यात्तदा तस्यावलंबन ॥१५॥

अर्थः—यदि कदाचित् किसी अन्य प्रयोजनके लिये शुद्धचिद्रूपके निश्चल ध्यानरूपी पर्वतसे उतरना हो जाय, ध्यान करना छोडना पड़े तो उस समय भी व्यवहारनयका नियमसे अवलवन रखे । उस समय यदि व्यवहारनयका अवलबन न होगा तो भ्रष्टपना आ सकता है ॥१५॥

याता यांति च यास्यंति ये भव्या मुक्तिसंपदं ।
आलंब्य व्यवहारं ते पूर्वं पश्चाच्चनिश्चयं ॥१६॥
कारणेन विना कार्यं न स्यात्तेन विना नयं ।
व्यवहार कदोत्पत्तिर्निश्चयस्य न जायते ॥१७॥

अर्थः—जो महानुभाव मोक्षरूपी सपत्तिको प्राप्त हो गये, हो रहे है और होवेंगे उन सबने पहिले व्यवहारनयका अवलबन किया है; क्योकि विना कारणके कार्य कदापि नही हो सकता । व्यवहारनय कारण है और निश्चयनय कार्य है, इसलिये बिना व्यवहारके निश्चय भी कदापि नही हो सकता ॥१६–१७॥

जिनागमे प्रतीतिः स्याज्जिनस्याचरणेऽपि च ।
निश्चयं व्यवहारं तन्नय भज यथाविधि ॥१८॥

अर्थः—व्यवहार और निश्चयनयका जैसा स्वरूप बतलाया है उसीप्रकार उसे जानकर उनका इस रीतिसे अवलंबन करना चाहिये जिससे कि जैन शास्त्रोमें विश्वास और भगवान जिनेद्रसे उक्त चारित्र मे भक्ति बनी रहे ॥१८॥

व्यवहारं विना केचिन्नष्टा केवलनिश्चयात् ।
निश्चयेन विना केचित्केवलव्यवहारतः ॥१९॥

अर्थः—अनेक मनुष्य तो संसारमें व्यवहारका सर्वथा परित्याग कर केवल शुद्धनिश्चयनयके अवलंबनसे नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं और बहुतसे निश्चयनयको छोड़कर केवल व्यवहारका ही अवलबन कर नष्ट हो जाते है ।

भावार्थः—संसारमें प्राणियोकी रुचि भिन्न भिन्न रूपसे होती है । बहुतसे मनुष्य तो केवल शुद्धनिश्चयावलबी हो मनमे यह दृढ सकल्प कर कि हमारी आत्मा सिद्ध-शुद्ध है, वह भला बुरा कुछ नही करता, जो कुछ करता है सो जड़ शरीर ही करता है और उससे हमे कोई संबन्ध नही, भ्रष्ट हो जाते है और चारित्रको सर्वथा जलाजलि दे उन्मार्गगामी बन नाना प्रकारके अत्याचार करने लग जाते हैं तथा अनेक मनुष्य केवल व्यवहारनयका ही अवलंबन कर क्रियाकाण्डों में उलझे रह जाते हैं और निश्चयनयकी ओर झाँककर भी नही देखते, इसलिये मोक्षके पात्र न होनेसे वे भी भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१९॥

द्वाभ्यां दृग्भ्यां विना न स्यात् सम्यग्द्रव्यावलोकनं ।
यथा तथा नयाभ्यां चेत्युक्तं स्याद्वादवादिभिः ॥२०॥

अर्थः—जिस प्रकार एक नेत्र से भले प्रकार से पदार्थो का अवलोकन नही होता दोनो ही नेत्रों से पदार्थ भले प्रकार दिख सकते है, उसी प्रकार एक नयसे कभी कार्य नही चल सकता। व्यवहार और निश्चय दोनो नयोसे ही निर्दोषरूपसे कार्य हो सकता है ऐसा स्याद्वाद मत के धुरंधर विद्वानो का मत है ॥२०॥

निश्चय क्वचिदालंब्य व्यवहारंक्वचिन्नयं।
विधिना वर्त्तते प्राणी जिनवाणी विभूषितः ॥२१॥

अर्थः—जो जीव भगवान जिनेन्द्रकी वाणीसे भूषित है, उनके वचनो पर पूर्णरूपसे श्रद्धान रखनेवाले हैं वे कही व्यवहारनयसे काम चलाते हैं और कही निश्चयनयका सहारा लेते हैं। अर्थात् जहां जैसा अवसर देखते हैं वहां वैसा ही उसी नयको आश्रयकर कार्य करते है ॥२१॥

व्यवहाराद्वहिः कार्यं कुर्याद्विधिनियोजितं।
निश्चयं चांतरं धृत्वा तत्त्ववेदी सुनिश्चलं ॥२२॥

अर्थः—जो महानुभाव तत्वज्ञानी हैं। भलेप्रकार तत्त्वो के जानकार है। वे अन्तरगमें भले प्रकार निश्चयनयको धारणकर व्यवहारनयसे अवसर देखकर बाह्यमे कार्यका संपादन करते है। अर्थात् दोनो नयोको काममे लाते हैं, एक नयसे कोई काम नही करते ॥२२॥

शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिर्नयाधीनेति पश्यतां।
नयादिरहितं शुद्धचिद्रूपं तदनंतरं ॥२३॥

इति मुमुक्षुभट्टारकज्ञानभूषणविरचितायां तत्वज्ञान तरंगिण्या
नयावलंबन प्रतिपादक सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिकरनेके लिये भेद विज्ञान की प्राप्तिको बतलाने वाला

आठवां अध्याय

छेत्रीसूचीक्रकचपवनैः सीसकाग्न्यूषयंत्रै-
स्तुल्या पाथः कतकफलवद्धंसपक्षिस्वभावा ।
शस्त्रीजायुस्वधितिसदृशा टंकवैशाखवद्वा
प्रज्ञा यस्योद्भवति हि भिदे तस्य चिद्रूपलब्धि ॥१॥

अर्थः—जिस महानुभावकी बुद्धि छैनी, सुई, आरा, पवन, सीसा, अग्नि, ऊषयत्र (कोलू) कतकफल (फिटकरी) हसपक्षी, छुरी, जायु, दाता, टांकी और वैशाखके समान जड़ और चेतनके भेद करनेमे समर्थ हो गई है, उसी महानुभावको चिद्रूपकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थः—जिस प्रकार छैनी, सुई, आरा मिले हुये पदार्थके दो टुकड़े कर देते हैं, पवन गधको जुदा उडाकर ले जाता है, सीसा सोने चादीको शुद्ध कर देता है, अग्नि-सोना आदिको मैलसे शुद्ध कर देती है, कोलू-ईखके रसको जुदा कर देता है और छुरी आदि मिले हुये पदार्थके टुकडे टुकडे कर डालते है, उसीप्रकार जिस महानुभावकी बुद्धिने भी अनादिकालसे एकमेक जड और चेतनको जुदा जुदा कर पहचान लिया है, वही चिद्रूपका लाभ कर सकता है अन्य नही ॥१॥

स्वर्णं पाषाणसूताद्वसनमिवमलात्ताम्ररूप्यादिहेम्नो
वा लोहादग्निरिक्षो रस इह जलवत्कर्दमात्केकिपक्षात् ।

ताम्रं तैलं तिलादेः स्वजनमिव किलोपायतस्ताम्रगुप्यात्
दुग्धात्क्षीरे घृतं च क्षिपन इव पृथक् ज्ञानिनात्मा शरीरात् ॥२॥

अर्थः—जिसप्रकार स्वर्णपाषाणसे सोना भिन्न किया जाता है, मैलसे वस्त्र, सोनेसे तांबा चांदी आदि पदार्थ, लोहेसे अग्नि, ईख से रस, कीचड़से जल केकी (मयूर) के पंखसे तांबा, तिल आदि से तेल, तांबा आदि धातुओंसे चांदी और दूधसे जल एवं घी जुदा कर लिया जाता है, उसीप्रकार जो मनुष्य ज्ञानी है—जड़ चेतनका वास्तविक ज्ञान रखता है वह शरीरसे आत्माको जुदा कर पहिचानता है ।

भावार्थः—मोक्ष अवस्थाके पहिले आत्मा और शरीरका संबंध अनादिकालसे है । ऐसा कोई भी अवसर प्राप्त न हुआ जिसमें शरीर और आत्मा सर्वथा जुदे हुये हों तथा अज्ञानियोंको शरीर और आत्मा दोनों एक ही जान पड़ते हैं, इनमें भेद दृष्टिगोचर होता ही नहीं । परन्तु ज्ञानियोंकी दृष्टिमें अवश्य भेद है क्योंकि जिसप्रकार अनादिकालसे मिले हुये सोनेमें पाषाण और सोनेको, मैल और वस्त्रको, तांबा और चांदी सोनेको, लोह और अग्निको, ईख और उसके रसको, कीचड़ और पानीको, केकीके पंख और तांबेको, तिल और तेलको, तांबा आदि धातु और चांदीको और क्षीर, नीर व घीको सर्वथा जुदा जुदा कर जान लिया जाता है, उसीप्रकार ज्ञानी भी शरीर और आत्माको सर्वथा जुदा जुदा कर पहिचानता है ॥७॥

देहं मांसं दुर्गन्धं स्वजनजनकजं वर्चवस्तं स्वधातु-
क्षाणि सर्वाणिमानि दुष्टदरिद्रमलं तोदरं पुत्रजाते ।

देहं हृद्वाग्विभावान् विकृतिगुणविधीन् कारकादीनो भित्वा
शुद्धं चिद्रूपमेकं सहजगुणनिधिं निर्विभागं स्मरामि ॥३॥

अर्थ.—देश, राष्ट्र, पुरगाव, जनसमुदाय, धन, वन, ब्राह्मण आदि वर्णोका पक्षपात, जाति, सबधी, कुल, परिवार भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर हृदय और वाणी ये सब पदार्थ विकारके करनेवाले हैं। इनको अपना मानकर स्मरण करने से ही चित्त, शुद्धचिद्रूपकी ओरसे हट जाता है–चचल हो उठता है तथा मैं कर्त्ता और कारण आदि हू इत्यादि कारको के स्वीकार करनेसे भी चित्तमे चल विचलता उत्पन्न हो जाती है, इसलिये स्वाभाविक गुणोके भडार शुद्धचिद्रूपको ही मैं निर्विभागरूपसे कर्त्ता कारणका कुछ भी भेद न कर स्मरण मनन, ध्यान करता हू।

भावार्थ—चित्तमे किसीप्रकारकी चंचलता न आना–परिणामोका आकुलतामय न होना ही परमसुख है। मैं देखता हूं जिस समय देश, राष्ट्र, पुर, कुल, जाति, और परिवार आदिका विचार किया जाता है, उनके रहनसहन पर ध्यान दिया जाता है तो मेरा चित्त आकुलतामय हो जाता है, रच–मात्रभी परिणामोको शाति नही मिलती परन्तु शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेसे चित्तमे किसी प्रकारकी खट खट नही होती, एकदम शातिका सचार होने लग जाता है, इसलिये समस्त जगतके जजालको छोडकर मैं शुद्धचिद्रूप का ही स्मरण करता हू उसीसे मेरा कल्याण होगा ॥३॥

स्वात्मध्यानामृतं स्वच्छंविकल्पानपसार्य सत् ।
पिबति क्लेशनाशाय जलं शैवालवत्सुधीः ॥४॥

अर्थः—जिस प्रकार क्लेश (पिपासा) की शातिके लिये जलके ऊपर पुरी हुई काईको अलगकर शीतल सुरस निर्मल जल पिया जाता है, उसीप्रकार जो मनुष्य बुद्धिमान है, दुःखोसे दूर होना चाहते है वे समस्त ससारके विकल्प जालोको छोडकर आत्मध्यानरूपी अनुपम स्वच्छ अमृत-पान करते हैं— अपने चित्तको द्रव्य आदिकी चिन्ताकी ओर नही झुकने देते ॥४॥

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् परं तपः ।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ॥५॥

अर्थः—(क्योकि) इस आत्मध्यानसे बढकर न तो कही किसी कालमे कोई सुख है, न तप है और न मोक्ष ही है अर्थात् जो कुछ है सो यह आत्मध्यान ही है, इसलिये इसी को परम कल्याणका कर्त्ता समझना चाहिये ॥५॥

केचित्प्राप्य यशः सुख वरवधूं रायं सुतं सेवकं
स्वामित्वं वरवाहनं बलसुहृत्पांडित्यरूपादिकं ।
मन्यंते सफलं स्व जन्म मुदिता मोहा भूता नरा
मन्येऽहं च दुरापयात्मवपुषोर्ज्ञप्त्या भिदः केवल ॥६॥

अर्थ —मोहके मदमे मत्त बहुतसे मनुष्य कीर्ति प्राप्त होनेसे हो अपना जन्म धन्य समझते है । अनेक इन्द्रियजन्य-सुख, सुन्दर स्त्री, धन, पुत्र, उत्तम सेवक, स्वामीपना और उत्तम वाहनोकी प्राप्तिसे अपना जन्म सफल मानते है और बहुतोको वल, उत्तम मित्र, विद्वत्ता और मनोहररूप आदिकी प्राप्तिसे सतोप हो जाता है, परन्तु मैं आत्मा और शरीरके भेद विज्ञानसे अपना जन्म सफल मानता हूँ ।

भावार्थः—यह जीव अनादिकालसे इस ससारमे घूम रहा है। कई बार इसे कीर्ति, सुख, उत्तम स्त्री, धन, पुत्र और सेवक प्राप्त हो चुके है। बहुत बार यह स्वामी–राजा भी हो गया है। इसे उत्तम सवारी, बल, मित्र, विद्वान और रूप आदि की भी अनेक बार प्राप्ति हो चुकी है, परन्तु मोहके जालमे फँसनेके कारण इसे जरा भी होश नही होता और पुनः पुत्र आदि की प्राप्ति से अपने जन्मको कृतार्थ मानने लग जाता है। मुझे ससारके चरित्रके भलेप्रकार ज्ञानसे उनकी प्राप्तिसे किसी प्रकारका सतोष नही होता, इसलिये मैं भेदविज्ञानसे ही अपना जन्म कृतार्थ मानता हू ॥६॥

तावत्तिष्ठंति चिद्भूमौ दुर्भेद्याः कर्मपर्वताः।
भेदविज्ञान वज्रं न यावत्पतति मूर्द्धनि ॥७॥

अर्थः—आत्मारूपी भूमिमे कर्मरूपी अभेद्य पर्वत, तभी तक निश्चलरूपसे स्थिर रह सकते हैं जब तक भेदविज्ञान रूपी वज्र इनके मस्तक पर पड कर इन्हे चूर्ण चूर्ण नही कर डालता।

भावार्थः—जब तक भेदविज्ञान नही होता तभी तक कर्म आत्माके साथ लगे रहते हैं, परन्तु भेदविज्ञान होते ही कर्म एकदम नष्ट हो जाते हैं ॥७॥

दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये चिद्रूपरुचिकारकः।
ततोऽपि दुर्लभं शास्त्र चिद्रूपप्रतिपादकं ॥८॥
ततोऽपि दुर्लभो लोके गुरुस्तदुपदेशकः।
ततोऽपि दुर्लभं भेदज्ञान चिंतामणिर्यथा ॥९॥

अर्थः—जो पदार्थ चिद्रूपमें प्रेम करानेवाला है वह संसारमे दुर्लभ है, उससे भी दुर्लभ चिद्रूपके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र है। यदि शास्त्र भी प्राप्त हो जाय तो चिद्रूपके स्वरूपका उपदेशक गुरु नही मिलता, इसलिये उससे गुरुकी प्राप्ति दुर्लभ है। गुरु भी प्राप्त हो जाय तो जिस प्रकार चिन्तामणि रत्नकी प्राप्ति दुर्लभ है, उसीप्रकार भेद-विज्ञानकी प्राप्ति भी दुष्प्राप्य है।

भावार्थः—प्रथम तो चिद्रूपके ध्यानमें रुचि नही होती यदि रुचि हो जाय तो चिद्रूपके स्वरूपका प्रतिपादन करने वाला शास्त्र नही मिलता कदाचित् शास्त्र प्राप्त हो जाय तो उसका उपदेशक गुरु नही प्राप्त होता, गुरुकी प्राप्ति हो जाय तो भेदविज्ञानकी प्राप्ति जल्दी नही होती, इसलिये भेद-विज्ञानकी प्राप्ति सबसे दुर्लभ है ॥८–९॥

भेदो विधीयते येन चेतनाद्देहकर्मणोः।
तज्जातविक्रियादीनां भेदज्ञानं तदुच्यते ॥१०॥

अर्थः—जिसके द्वारा आत्मासे देह और कर्मका तथा देह एव कर्मसे उत्पन्न हुई विक्रियाओका भेद जाना जाय उसे भेदविज्ञान कहते हैं ॥१०॥

स्वकीयं शुद्धचिद्रूप भेदज्ञानं विना कदा।
तपः श्रुतवतां मध्ये न प्राप्तं केनचित् क्वचित् ॥११॥

अर्थः— शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति बिना भेदविज्ञानके कदापि नही हो सकती, इसलिये तपस्वी या श्रुतज्ञानी किसी महानुभावने बिना भेदविज्ञानके आजतक कही भी शुद्धचिद्रूपकी

प्राप्ति न कर पाई और न कर ही सकता है। जिसने शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति की है उसने भेदविज्ञानसे ही की है ॥११॥

क्षयं नयति भेदज्ञश्चिद्रूपप्रतिघातकं ।
क्षणेन कर्मणां राशिं तृणानां पावको यथा ॥१२॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि देखते देखते तृणोके समूहको जलाकर खाक कर देती है, उसीप्रकार जो भेदविज्ञानी है वह शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके नाश करनेवाले कर्म समूहको क्षण भरमे समूल नष्ट कर देता है–भेदविज्ञानीकी आत्माके साथ किसी प्रकारके कर्मका सम्बन्ध नही रहता ॥१२॥

अछिन्नधारया भेदबोधनं भावयेत् सुधीः ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै सर्वशास्त्र विशारदः ॥१३॥

अर्थः—जो महानुभाव समस्त शास्त्रोमे विशारद है और शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिका अभिलाषी है उसे चाहिये कि वह एकाग्र हो भेदविज्ञानकी ही भावना करे–भेदविज्ञानसे अतिरिक्त किसी पदार्थमे ध्यान न लगाये ॥१३॥

संवरो निर्जरा साक्षात् जायते स्वात्मबोधनात् ।
तद्भेदज्ञानतस्तस्मात्तच्च भाव्यं मुमुक्षुणा ॥१४॥

अर्थः—अपने आत्माके ज्ञानसे सवर और निर्जराकी प्राप्ति होती है। आत्माका ज्ञान भेदविज्ञानसे होता है, इसलिये मोक्षाभिलाषीको चाहिये कि वह भेदविज्ञानकी ही भावना करे।

भावार्थः—संवर (कर्मोके आगमनका रुक जाना) और निर्जरा (क्रम क्रमसे अवशिष्ट कर्मोका क्षय होना) की प्राप्तिके

बाद मोक्षकी प्राप्ति होती है। संवर और निर्जराका लाभ आत्मज्ञानसे होता है और आत्मज्ञान भेद ज्ञानसे होता है, इसलिये मोक्षाभिलाषीको चाहिये कि वह भेदविज्ञानको सबमें कार्यकारी जान उसीकी भावना करे ॥१४॥

लब्धा वस्तुपरीक्षा च शिल्पादिसकला कला।
बह्वी शक्तिर्विभूतिश्च भेदज्ञप्तिर्न केवला ॥१५॥

अर्थः—इस ससारके अदर अनेक पदार्थोंकी परीक्षा करना भी सीखा। शिल्प आदि अनेक प्रकारकी कलायें भी हासिल की। बहुत सी शक्तियां और विभूतियां भी प्राप्त की; परन्तु भेदविज्ञानका लाभ आज तक नही हुआ ॥१५॥

चिद्रूपच्छादको मोहरेणुराशिर्न बुध्यते।
क्व यातीति शरीरात्मभेदज्ञानप्रभंजनात् ॥१६॥

अर्थः—शरीर और आत्माके भेद विज्ञानरूपी महापवन के सामने चिद्रूपके स्वरूपको ढकनेवाली मोहकी रेणुये न मालूम कहा किनारा कर जाती हैं?

भावार्थः—जिसप्रकार जबतक बलवान पवन नहीं चलती तभी तक धूलिके रेणु इकट्ठा रहते है, किन्तु पवनके चलते ही उनका पता नही लगता। उसी प्रकार जब तक शरीर और आत्माका भेदविज्ञान नही होता —वे जुदे जुदे नही जान लिये जाते तभी तक मोहका पर्दा आत्माके ऊपर पडा रहता है, परन्तु भेदविज्ञानके प्राप्त होते ही वह एकदम लापता हो जाता है—अन्वेषण करने पर भी उसका जरा भी खोज नही चलता ॥१६॥

भेदज्ञानं प्रदीपोऽस्ति शुद्धचिद्रूपदर्शने ।
अनादिजमहामोहतामसच्छेदनेऽपि च ॥१७॥

अर्थः—यह भेदविज्ञान, शुद्धचिद्रूपके दिखानेमे जाज्वल्य-मान दीपक है और अनादिकालसे विद्यमान मोहरूपी प्रवल अंधकारका नाश करनेवाला है ।

भावार्थः— जिस प्रकार दीपकसे घट पट आदि पदार्थ स्पष्टरूपसे दीखते है और अधकारका नाश हो जाता है, उसीप्रकार भेदविज्ञानसे शुद्धचिद्रूपका भलेप्रकार दर्शन होता है और मोहरूपी गाढ अंधकार भी बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१७॥

भेदविज्ञाननेत्रेण योगी साक्षादवेक्षते ।
सिद्धस्थाने शरीरे वा चिद्रूपं कर्मणोज्झितं ॥१८॥

अर्थः—योगीगण भेदविज्ञानरूपी नेत्रकी सहायतासे सिद्धस्थान और शरीरमे विद्यमान समस्त कर्मोसे रहित शुद्ध-चिद्रूपको स्पष्ट रूपसे देख लेते हैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार गृह आदि स्थानो पर स्थित पदार्थ नेत्रसे भलेप्रकार देख जान लिये जाते हैं, उसी प्रकार सिद्धस्थान (मोक्ष) और अपने शरीरमे विद्यमान समस्त कर्मोसे रहित इस शुद्धचिद्रूपको दिखानेवाला जो भेद विज्ञान है उसके द्वारा योगी शुद्धचिद्रूपको भी स्पष्टरूपसे देख लेते हैं ॥१८॥

मिलितानेकवस्तूनां स्वरूपं हि पृथक् पृथक् ।
स्पर्शादिभिर्विदग्धेन नि शंकं ज्ञायते यथा ॥१९॥

तथैव मिलितानां हि शुद्धचिद्देहकर्मणां ।
अनुभूत्या कथंसिद्धिः स्वरूपं न पृथक् पृथक् ।।२०।युग्मं।।

अर्थः—जिसप्रकार विद्वान मनुष्य आपसमे मिले हुये भी अनेक पदार्थोंका स्वरूप स्पर्श आदिके द्वारा स्पष्टरूपसे जुदा जुदा पहिचान लेते है, उसीप्रकार आपसमे अनादिकाल से मिले हुये शुद्धचिद्रूप, शरीर और कर्मोके स्वरूपको भी अनुभव ज्ञानके बलसे वे बिना किसी रोक टोकके स्पष्टरूपसे जुदा जुदा जान लेते है ।

भावार्थ—ससारमे पदार्थोंके स्वरूप भिन्न भिन्न है और उनके बतलाने वाले लक्षण भी जुदे जुदे है । जल और अग्नि आदि पदार्थ एक स्थान पर स्थित रहने पर भी अपने शीत और उष्ण स्पर्शसे स्पष्ट रूपसे जुदे जुदे जान लिये जाते है; क्योकि शीत स्पर्श सिवाय जलके और उष्ण स्पर्श सिवाय अग्नि के किसी पदार्थमे नही रहता । उसीप्रकार यद्यपि शुद्धचिद्रूप, शरीर और कर्म अनादिकालसे आपसमे एकम एक हो रहे है । आज तक कभो ऐसा अवसर न आया जिसमे ये सर्वथा जुदे जुदे हुये हो, तथापि अनुभव भेदविज्ञानके बलसे इनको जुदा जुदा कर जान लिया जाता है—यह शुद्धचिद्रूप है और ये जड़ शरीर और कर्म है—यह वात खुलासा रूपसे समझमे आ जाती है ।।१९–२०।।

आत्मानं देहकर्माणि भेदज्ञाने समागते ।
मुक्त्वा यांति यथा सर्पा गरुडे चंदनद्रुमं ।।२१।।

अर्थ—जिसप्रकार चन्दन वृक्ष पर लिपटा हुआ सर्प अपने वैरी गरुड़ पक्षीके देखते ही तत्काल आँखोसे ओझल

हो जाता है, पता लगाने पर भी उसका पता नही लगता। उसीप्रकार भेदविज्ञानके उत्पन्न होते ही समस्त कर्म आत्मा को छोडकर न मालूम कहा लापता हो जाते हैं, विरोधी भेद विज्ञानके उत्पन्न होते ही कर्मोंकी सूरत भी नही दीख पडती ॥२१॥

भेदज्ञानबलात् शुद्धचिद्रूपं प्राप्य केवली।
भवेद्देवाधिदेवोपि तीर्थंकर्त्ता जिनेश्वरः ॥२२॥

इति मुमुक्षु भट्टारक ज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञान तरंगिण्यां शुद्धचिद्रूप प्राप्तये भेदविज्ञान प्राप्ति प्रतिपादकोऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

अर्थः—इसी भेदविज्ञानके बलसे यह आत्मा शुद्धचिद्रूप को प्राप्तकर केवलज्ञानी, तीर्थंकर और जिनेश्वर कहलाने लगता है।

भावार्थ—केवली जिनेश्वर आदि पदोकी प्राप्ति अति कठिन है परन्तु भेदविज्ञानियोके लिये अति कठिन नहीं, क्योकि जो महानुभाव अपने भेदविज्ञान रूपी अखंड बलसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति कर लेते है वे केवलज्ञान रूपी अचिंत्य-विभूतिसे मडित हो जाते हैं, समस्त देवोंके स्वामी, तीर्थंकर और जिनेश्वर भी कहलाने लगते हैं, इसलिये यह भेदविज्ञान संसारकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला अनुपम चिन्तामणि रत्न है ॥२२॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञान तरंगिणीमे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति करनेके लिये भेदविज्ञानकी प्राप्तिको बतलानेवाला आठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥८॥

शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेके लिये मोहके त्यागका
वर्णन करने वाला

नवमाँ अध्याय

अन्यदीया मदीयाश्च पदार्थाश्चेतनेतराः ।
एतेऽदश्चितनं मोहो यतः किंचिन्न कस्यचित् ॥१॥

अर्थ—ये चेतन और जड पदार्थ पराये और अपने है इसप्रकार का मनमे चितवन करना ही मोह है; क्योकि यदि वास्तवमे देखा जाय तो कोई पदार्थ किसीका नही ।

भावार्थः—सिवाय शुद्धचिद्रूपके ससारमे कोई पदार्थ अपना नही, इसलिये स्त्री, पुत्र आदि चेतन, धन-माल-खजाना आदि अचेतन पदार्थोमे अपने मनका संकल्प विकल्प करना मोह है ॥१॥

दत्तो मानोऽपमानो मे जल्पिता कीर्त्तिरुज्ज्वला ।
अनुज्ज्वलापकीर्त्तिर्वा मोहस्तेनेति चितनं ॥२॥

अर्थः—इसने मेरा आदर सत्कार किया, इसने मेरा अपमान अनादर किया, इसने मेरी उज्ज्वल कीर्त्ति फैलाई और इसने मेरी अपकीर्त्ति फैलाई, इसप्रकारका विचार मनमे लाना ही मोह है ।

भावार्थ.—यदि वास्तवमे देखा जाय तो किसका आदर ? किसका अनादर ? किसकी कीर्त्ति ? और किसकी अपकीर्त्ति ? सब बाते मिथ्या हैं, परन्तु मोहसे मूढ़ यह प्राणी आदर अनादरका विचार करने लग जाता है, इसलिये उसका इसप्रकारका विचार करना प्रबल मोह है ॥२॥

कि करोमि क्व यामीदं क्व लभेय सुखं कुत· ।
किमाश्रयामि कि वच्मि मोहश्चिंतनमीदृशं ।।३।।

अर्थः—मैं क्या करू ? कहाँ जाऊं ? कैसे सुखी होऊ ? किसका सहारा लू ? और क्या कहूँ ? इसप्रकारका विचार करना भी मोह है। निर्मोही वीतराग ऐसे विचार को सर्वथा मिथ्या मान कभी ऐसा विचार नही करते ।।३।।

चेतनाचेतने रागो द्वेषो मिथ्यामतिर्मम ।
मोहरूपमिदं सर्वंचिद्रूपोऽहं हि केवलः ।।४।।

अर्थः—ये जो ससारमे चेतन–अचेतन रूप पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे मेरे है या दूसरेके है, इसप्रकार राग और द्वेषरूप विचार करना मिथ्या है, क्योकि ये सब मोह-स्वरूप है और मेरा स्वरूप शुद्धचिद्रूप है, इसलिये ये मेरे कभी नही हो सकते ।।४।।

देहोऽह मे स वा कर्मोदयोऽहं वाप्यसौ मम ।
कलत्रादिरहं वा मे मोहोऽदश्चिंतनं किल ।।५।।

अर्थ.—मैं शरीरस्वरूप हू और शरीर मेरा है, मैं कर्मका उदयस्वरूप हू और कर्मका उदय मेरा है, मैं स्त्री पुत्र आदि स्वरूप हू और स्त्री पुत्र आदि मेरे है, इसप्रकारका विचार करना भी सर्वथा मोह है–देह आदि मे मोहके होनेसे ही ऐसे विकल्प होते हैं ।।५।।

तज्जये व्यवहारेण संत्युपाया अनेकश. ।
निश्चयेनेति मे शुद्धचिद्रूपोऽहं स चिंतनं ।।६।।

अर्थः—व्यवहारनयसे इस उपर्युक्त मोहके नाश करने के लिये बहुतसे उपाय है, निश्चयनयसे "मै शुद्धचिद्रूप हूं" ऐसा विचार करने मात्र से ही इसका सर्वथा नाश हो जाता है।

भावार्थ—यह मेरा है, यह तेरा है, मैं शरीर आदि स्वरूप हूं और शरीर आदि मेरे स्वरूप हैं, इस प्रकारका विचार करना जो पहिले मोह बतला आये हैं उस मोहका नाश व्यवहारनयकी अपेक्षा बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहके त्यागसे तप आदिके आचरण करनेसे होता है और निश्चयनयसे "मैं शुद्धचिद्रूप हूँ" ऐसा विचार करने से ही वह समूल नष्ट हो जाता है ॥६॥

धर्मो द्वारविनाशनादि कुरुते कालो यथा रोचते
स्वस्यान्यस्य सुखासुखं वरखजं कर्मैव पूर्वार्जितं ।
अन्ये येऽपि यथैव संति हि तथैवार्थाश्च तिष्ठंति ते
तच्चिंतामिति मा विधेहि कुरु ते शुद्धात्मनश्चिंतनं।७॥

अर्थ—कालके अनुसार धर्म, कर्मोके आगमनके द्वारको रोकता है पहिलेका उपार्जन किया हुआ कर्म इन्द्रियोके उत्तमोत्तम सुख और नानाप्रकारके क्लेश भुगाता है। जो पदार्थ जैसे और जिस रीतिसे है वे उसी रीति से विद्यमान हैं, इसलिये हे आत्मन्! तू उनके लिये किसी बात की चिंता न कर, अपने शुद्धचिद्रूपकी ओर ध्यान दे।

भावार्थ—जो पदार्थ जैसा है वह उसी रूपसे है। वास्तविक दृष्टिसे रत्तीभर भी उसमे हेरफेर नही हो सकता।

देखो ! कालके अनुसार धर्ममे कर्मोका आना बंद होता है और नाश होता है। पहिले उपार्जन किये कर्मसे संसारमे सुख दुःख भोगना पडता है और भी जो पदार्थ जिस रूपसे हैं वे उसी रूपसे स्थित हैं, तव उनके विषय मे चिन्ता करना व्यर्थ है, इसलिये आत्माको चाहिये कि वह समस्त प्रकारकी चिन्ताओका परित्याग कर अपने शुद्धचिद्रूपकी ही चिन्ता करे। उसीकी चिंतामे उसका कल्याण हो सकता है ॥६॥

दुर्गंधं मलभाजनं कुविधिना निष्पादितं धातुभि-
रंगं तस्य जनैर्निजार्थं मखिलैराख्या धृता स्वेच्छया।
तस्या. किं मम वर्णनेन सततं किं निंदनेनैव च
चिद्रूपस्य शरीरकर्मजनिताऽन्यस्याप्यहो तत्वतः ॥८॥

अर्थः—यह शरीर दुर्गन्धमय है। विष्ठा मूत्र आदि मलोका घर है। निंदित कर्मकी कृपासे मल मज्जा आदि धातुओसे वना हुआ है। तथापि मूढ मनुष्योने अपने स्वार्थकी पुष्टिके लिये इच्छानुसार इसकी प्रशसा की है, परन्तु मुझे इस शरीरकी प्रशंसा और निंदासे क्या प्रयोजन है ? क्योकि मैं निश्चयनयसे शरीर, कर्म और उनसे उत्पन्न हुये विकारोसे रहित शुद्धचिद्रूप स्वरूप हू।

भावार्थः—यदि यह शरीर मेरा और मेरे समान होता तो मुझे इसकी प्रशसा-निंदा करनी पड़ती, सो तो है नही, क्योकि यह महा अपवित्र है, जड है और मैं शुद्धचिद्रूप हू, इसलिये कभी भी इसकी मेरे साथ तुलना नही हो सकती, इसलिये मुझे इसकी प्रशसा और निन्दा से कोई लाभ नही ॥८॥

कीर्ति वा पररंजनं खविषयं केचिन्निजं जीवितं
सतानं च परिग्रहं भयमपि ज्ञानं तथा दर्शन ।
अन्यस्याखिलवस्तुनो रुगयुति तद्धेतुमुद्दिश्य च
कुर्युं कर्म विमोहिनो हि सुधियश्चिद्रूपलब्ध्यै परं ।९।।

अर्थः—संसारमे बहुतसे मोही पुरुष कीर्त्तिके लिये काम करते हैं, अनेक दूसरोके प्रसन्न करनेके लिये, इन्द्रियोंके विषयोकी प्राप्तिके लिये, अपने जीवनकी रक्षाके लिये, संतान परिग्रह, भय, ज्ञान, दर्शन तथा अन्य पदार्थोंकी प्राप्ति और रोगके अभावके लिये काम करते हैं और बहुतसे कीर्त्ति आदिके कारणोके मिलानेके लिये उपाय सोचते हैं परन्तु जो मनुष्य बुद्धिमान हैं अपनी आत्माको सुखी बनाना चाहते हैं, वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये ही कार्य करते है ।

भावार्थः—संसारमे जीव भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके है । कोई मनुष्य संसारमे कीर्त्ति लाभ करना ही अच्छा समझते हैं, बहुतसे परको प्रसन्न करनेसे ही अपनेको सुखी मानते हैं, अनेक इन्द्रियोके विषयोमे प्रसन्न रहते हैं, कोई कोई अपने जीवनकी रक्षा, सतानकी उत्पत्ति और परिग्रहकी एकत्रता करना ही अच्छा समझते है, बहुतसे ज्ञान दर्शन आदि अन्य पदार्थोंकी प्राप्ति और रोगके दूर करनेके लिये ही चिन्ता करते रहते हैं तथा इनको प्राप्तिके उपाय और उनके अनुकूल कार्य भी किया करते हैं, परन्तु ऐसे मनुष्य ससारमें उत्तम नही गिने जाते । मोहके जालमें जकडे हुये कहे जाते हैं, किंतु जो बुद्धिमान मनुष्य शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये कार्य

करते है और उसकी प्राप्तिके उपायोको सोचते हैं वे प्रशस्य गिने जाते हैं ॥९॥

कल्पेशनागेशनरेशसंभवं चित्ते सुखं मे सततं तृणायते ।
कुस्त्रीरमास्थानकदेहदेहजात् सदेतिचित्रंमनुतेऽल्पधीः सुखं॥१०॥

अर्थः—मैंने शुद्धचिद्रूपके स्वरूपको भलेप्रकार जान लिया है, इसलिये मेरे चित्तमे देवेन्द्र, नागेंद्र और नरेंद्रोके सुख जीर्ण तृण सरीखे जान पड़ते है, परन्तु जो मनुष्य अल्पज्ञानी हैं अपने और परके स्वरूपका भले प्रकार ज्ञान नही रखते वे निंदित स्त्रियां, लक्ष्मी, घर, शरीर और पुत्रसे उत्पन्न हुये सुखको जो कि दुःख स्वरूप है, सुख मानते हैं यह बडा आश्चर्य है ॥१०॥

न बद्धः परमार्थेन बद्धो मोहवशाद् गृही ।
शुकवद् भीमपाशेनाथवा मर्कटमुष्टिवत् ॥११॥

अर्थः—भय करानेवाले पाशके समान अथवा बदरकी मुट्ठीके समान यद्यपि यह जीव वास्तविक दृष्टिसे कर्मोंसे सबद्ध नही है तथापि मोहसे बँधा ही हुआ है ।

भावार्थः—जिसप्रकार नलिनी पर लटकता हुआ शुक यद्यपि पाश से बँधा हुआ नही रहता तथापि वह अपनेको पाशसे बँधा हुआ मानता है और अपनी सुध बुधको भूलकर उसको छोडना नही चाहता—लटकता ही रहता हैं तथा बदर जब चनोके लिये घडे मे हाथ डालता है और चनोकी मुट्ठी बँध जानेसे जब घडेसे हाथ नही निकलता तो समझता है कि मुझे घडेने पकड लिया है । उसी प्रकार यदि परमार्थ

से देखा जाय तो यह जीव किसी प्रकारके कर्मोंसे बँधा हुआ नही है तथापि व्यवहारसे यह मोहके गाढ बधनमे जकडा हुआ ही है ॥११॥

श्रद्धानां पुस्तकानां जिनभवममठांतेनिवास्यादिकानां
कीर्त्तेरक्षार्थकानां भुवि झटिति जनो रक्षणे व्यग्रचित्तः ।
यस्तस्य क्वात्मचिंता क्व च विशदमतिः शुद्धचिद्रूपकाप्तिः
क्व स्यात्सौख्यं निजोत्थं क्व च मनसि विचिंत्येति
कुर्वंतु यत्नं ॥१२॥

अर्थ—यह संसारी जीव, नाना प्रकारके धर्मकार्य, पुस्तके, जिनेद्र भगवानके मदिर, मठ, छात्र और कीर्त्तिकी रक्षा करनेके लिये सदा व्यग्रचित्त रहता है—उन कार्योंसे रचमात्र भी इसे अवकाश नही मिलता, इसलिये न यह किसी प्रकारका आत्म ध्यान कर सकता, न इसकी बुद्धि निर्मल रह सकती और न शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति और निराकुलतारूप सुख ही मिल सकता, अतः बुद्धिमानोको चाहिये कि वे इन सब बातो पर भले प्रकार विचार कर आत्माके चिंतवन आदि कार्योंमे अच्छी तरह यत्न करे ।

भावार्थ.—आत्माकी ओर ध्यान लगानेसे विशदमति-भेदविज्ञानकी प्राप्ति होती है । भेदविज्ञानसे शुद्धचिद्रूपका लाभ और उससे फिर निराकुलतारूप सुखकी प्राप्ति होती है; परन्तु जब तक धर्मकार्य, पुस्तके और कीर्ति आदिकी रक्षामे व्यग्रता रहेगी तब तक उपर्युक्त एक भी बातकी प्राप्ति नही हो सकती, इसलिये जिन महाशयोके शुद्धचिद्रूप

आदि पदार्थोंकी प्राप्तिकी अभिलाषा है उन्हें चाहिये कि वे ससारकी समस्त खटपटोंसे रहित हो शांतचित्त हो ॥१२॥

> अहं भ्रांत: पूर्वं तदनु च जगत् मोहवशत:
> परद्रव्ये चिंतासततकरणादाभवमहो ।
> परद्रव्यं मुक्त्वा विहरति चिदानंदनिलये
> निजद्रव्ये यो वै तमिह पुरुषं चेतसि दधे ॥१॥

अर्थः—मोहके फदमे पडकर परद्रव्योकी चिन्ता और उन्हे अपनानेसे प्रथम तो मैंने ससारमे परिभ्रमण किया और फिर मेरे पश्चात् यह समस्त जनसमूह घूमा, इसलिये जो महापुरुष परद्रव्योसे ममता छोड़कर चिदानदस्वरूप निज द्रव्यमे विहार करनेवाला है–निज द्रव्यका ही मनन, स्मरण ध्यान करनेवाला है, उस महात्माको मैं अपने चित्तमे धारण करता हूं ।

भावार्थः—इस ससारमे सबसे बलवान मोहनीय कर्म है और उसके फदेमे पडकर जीव नाना प्रकारके क्लेश भोगते रहते है । इसी मोहके फदेमे फँसकर परद्रव्योकी चितामे व्यग्र हो मैंने बहुतसे काल तक इस ससारमे भ्रमण किया और मेरे पीछे और भी बहुतसे जीव घूमते रहे; परन्तु इस ससारमे ऐसे भी बहुतसे मनुष्य हैं जिन्होने मोहको सर्वथा निर्मूल कर दिया है और समस्त परद्रव्योसे सर्वथा ममत्व छोड़कर आत्मिक शुद्धचिद्रूपमें चित्त स्थिर किया है, इसलिये अब मैं ऐसे ही महापुरुषोंकी शरण लेना चाहता हूं । इन्हींकी शरण में जानेसे मेरा कल्याण होगा ॥१३॥

हित्वा यः शुद्धचिद्रूपस्मरणं हि चिकीर्षति ।
अन्यत्कार्यमसौ चिंतारत्नमश्मग्रहं कुधीः ॥१४॥

अर्थः—जो दुर्बुद्धि जीव शुद्धचिद्रूपका स्मरण न कर अन्य कार्य करना चाहते है वे चिन्तामणि रत्नका त्यागकर पाषाण ग्रहण करते हैं ऐसा समझना चाहिये ॥१४॥

स्वाधीनं च सुखं ज्ञानं परं स्यादात्मचिंतनात् ।
तन्मुक्त्वा प्राप्तुमिच्छंति मोहतस्तद्विलक्षणं ॥१५॥

अर्थः—इस आत्माके चितवनसे–शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे निराकुलतारूप सुख और उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति होती है, परन्तु ये मूढ जीव मोहके वश होकर आत्माका चितवन करना छोड़ देते है और उससे विपरीत कार्य 'जो कि अनंत क्लेश देनेवाला है' कर निकलते हैं ॥१५॥

यावन्मोहो बली पुंसि दीर्घसंसारतापि च ।
न तावत् शुद्धचिद्रूपे रुचिरत्यतनिश्चला ॥१६॥

अर्थः—जब तक इस आत्माके साथ महा बलवान मोहनीय कर्मका संबंध है और दीर्घससारता–चिरकाल तक ससारमें भ्रमण करना बाकी है तब तक इसका कभी भी शुद्धचिद्रूपमे निश्चलरूपसे प्रेम नही हो सकता ॥१६॥

अंधे नृत्यं तपोऽज्ञे गदविधिरतुला स्वायुषो वाऽवसाने
गीतं वाधिर्ययुक्ते वपनमिह यथाऽप्यूषरे वार्यतृष्णे ।
स्निग्धे चित्राण्यभव्ये रुचिविधिरनघः कुंकुमं नीलवस्त्रे
नात्मप्रीतौ तदाख्या भवति किल वृथा निःप्रतीतौ सुमंत्रः॥१७

अर्थ—जिसप्रकार अंधेके लिये नाच, अज्ञानीके लिये तप, आयुके अंतमे औषधिका प्रयोग, बहिरेके लिये गीतोका गाना, ऊसर भूमिमे अन्नका वोना, बिना प्यासे मनुष्यके लिये जल देना, चिकने पर चित्रका खीचना, अभव्यको धर्म की रुचि कहना, काले कपडे पर केशरिया रंग और प्रतीति रहित पुरुपके लिये मंत्र प्रयोग करना, कार्यकारी नही उसी प्रकार जिसका आत्मामे प्रेम नही उस मनुष्यको आत्माके ध्यान करनेका उपदेश भी कार्यकारी नही–सब व्यर्थ है।

भावार्थः— जिसप्रकार अंधा नाच नही देख सकता, अज्ञानी तप नही कर सकता, आयुका अन्त हो जाने पर दवा काम नही दे सकती, बहिरा गीत नही सुन सकता, ऊसर भूमिमे अन्न नही उग सकता, बिना प्यासे मनुष्यके लिये जल फल नही दे सकता, चिकने पदार्थ पर तस्वीर नही खिंच सकती, अभव्यको धर्म रुचि नही हो सकती, काले कपडे पर केशरिया रंग नही चढ सकता और अविश्वासी मनुष्यके लिये मंत्र काम नही दे सकता। उसीप्रकार आत्मा मे प्रेम न करनेवाला मनुष्यभी उसके उपदेशसे कुछ लाभ नही उठा सकता, इसलिये जीवोको चाहिये कि वे अवश्य आत्मामे प्रेम करे ॥१७॥

स्मरंति परद्रव्याणि मोहान्मूढाः प्रतिक्षणं ।
शिवाय स्वं चिदानंदमयं नैव कदाचन ॥१८॥

अर्थः—ये मूढ़ मनुष्य मोहके वश हो प्रतिसमय पर-द्रव्यका स्मरण करते हैं; परन्तु मोक्ष के लिये शुद्धचिदानंदका कभी भी ध्यान नही करते ॥१८॥

मोह एव परं वैरी नान्यः कोऽपि विचारणात् ।
ततः स एव जेतव्यो बलवान् धीमताऽऽदरात् ॥१६॥

अर्थ:—विचार करनेसे मालूम हुआ है कि यह मोह ही जीवोका अहित करने वाला महा बलवान बैरी है। इसीके आधीन हो मनुष्य नाना प्रकारके क्लेश भोगते रहते हैं, इसलिये जो मनुष्य विद्वान है—आत्माके स्वरूपके जानकार है उन्हे चाहिये कि वे सबसे पहिले इस मोहको जीते—अपवे वशमे करे ॥१६॥

भवकूपे महामोहपंकेऽनादिगतं जगत् ।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानरज्ज्वा सर्वं समुद्धरे ॥२०॥

अर्थ:—यह समस्त जगत अनादिकालसे संसार रूपी विशाल कूपके अंदर महामोहरूपी कीचडमे फँसा हुआ है, इसलिये अब मैं शुद्धचिद्रूपके ध्यान रूपी मजबूत रस्सीके द्वारा इसका उद्धार करूंगा।

भावार्थ:—जिसप्रकार कुवेमे कीचड़के अदर फँसा हुआ पदार्थ रस्सी के सहारे ऊपर खीच लिया जाता है। उसीप्रकार यह समस्त जगत इस संसारमे महामोहसे मूढ हो रहा है और इसे अपने हित अहितका जरा भी ध्यान नही है, इसलिये शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी सहायतासे मैं इसका उद्धार करना चाहता हूं ॥२०॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानादन्यत्कार्यं हि मोहजं ।
तस्माद् बंधस्ततो दुःखं मोह एव ततो रिपुः ॥२१॥

अर्थ:—ससारमे सिवाय शुद्धचिद्रूपके ध्यानके, जितने कार्य हैं सब मोहज—मोहके द्वारा उत्पन्न है। सबकी उत्पत्तिमें

प्रधान कारण मोह है तथा मोहसे कर्मोंका बंध और उससे अनंते क्लेश भोगने पड़ते हैं, इसलिये सबसे अधिक जीवोका वैरी मोह ही है ॥२१॥

मोहं तज्जातकार्याणि संगं हित्वा च निर्मलं ।
शुद्धचिद्रूपसद्धयानं कुरु त्यक्त्वान्यसगति ॥२२॥

इति मुमुक्षु भट्टारक श्री ज्ञानभूषणविरचितायां तत्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपध्यानाय मोहत्यागप्रतिपादको नवमोऽध्यायः ॥९॥

अर्थः—अतः जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हे चाहिये कि वे मोह और उससे उत्पन्न हुये समस्त कार्योंका सर्वथा त्याग कर दे—उनकी ओर झाँककर भी न देखे और समस्त परद्रव्योसे ममता छोड केवल शुद्ध-चिद्रूपका ही मनन, ध्यान और स्मरण करे ॥२२॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्वज्ञान तरंगिणीमें शुद्धचिद्रूप के ध्यान करनेके लिये मोहके त्यागका वर्णनकरने वाला नवमां अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥



शुद्ध चिद्रूप का ध्यान करने के लिये अहंकार ममकार
के त्याग को बतलाने वाला

दसवाँ अध्याय

निरंतरमहंकारं मूढाः कुर्वंति तेन ते ।
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं विलोकंते न निर्मलं ॥१॥

अर्थः—मूढ पुरुष निरंतर अहंकारके वश रहते हैं—अपने से बढकर किसीको भी नही समझते, इसलिये अतिशय निर्मल अपने शुद्धचिद्रूपकी ओर वे जरा भी नही देखने पाते ।

भावार्थः—अहंकार, शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिका बाधक है । अहंकारी मनुष्य रूप आदि के मदमें ही उन्मत्त रहते हैं । शुद्धचिद्रूपकी ओर झांककर भी नहीं देखने पाते, इसलिये जो महानुभाव शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी है उन्हें चाहिये कि वे अहंकारका सर्वथा परित्याग कर दें ॥१॥

देहोऽहं कर्मरूपोऽहं मनुष्योऽहं कृशोऽकृशः ।
गौरोऽहं श्यामवर्णोऽहमद्विजोहं द्विजोऽथवा ॥२॥

अविद्वानप्यहं विद्वान् निर्धनो धनवानहं ।
इत्यादि चिंतनं पुंसामहंकारो निरुच्यते ॥३॥युग्मं॥

अर्थ—मैं देहस्वरूप हूँ, कर्मस्वरूप हूँ, मनुष्य हूँ, कृश हूँ, स्थूल हूँ, गोरा हूँ, काला हूँ, ब्राह्मणसे भिन्न क्षत्रिय वैश्य आदि हूँ, ब्राह्मण हूँ, मूर्ख हूँ, विद्वान हूँ, निर्धन हूँ और धनवान हूँ, इत्यादि रूपसे मनमें विचार करना अहंकार है । मूढ़ मनुष्य इसी अहंकारमे चूर रहते हैं ॥२-३॥

ये नरा निरहंकारं वितन्वंति प्रतिक्षरण ।
अद्वैतं ते स्वचिद्रूपं प्राप्नुवंति न सशयः ।।४।।

अर्थः—जो मनुष्य प्रतिसमय निरहंकारता प्रगट करते रहते हैं, अहंकार नहीं करते उन्हें निस्सदेह अद्वैतस्वरूप शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होती है ।।४।।

न देहोऽहं न कर्माणि न मनुष्यो द्विजोऽद्विजः ।
नैव स्थूलो कृशो नाह किंतु चिद्रूपलक्षणः ।।५।।
चिंतनं निरहंकारो भेदविज्ञानिनामिति ।
स एव शुद्धचिद्रूपलब्धये कारणं पर ।।६।।युग्मं।।

अर्थः—जो मनुष्य भेदविज्ञानी हैं, जड़ और चेतनका वास्तविक भेद जानते हैं उनका न मैं देहस्वरूप हूँ, न कर्म-स्वरूप हूँ, न मनुष्य हूँ, न ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय आदि हूँ, न स्थूल हूँ, और न कृश हूँ, किन्तु शुद्धचिद्रूपस्वरूप हूँ इसप्रकार का चितवन करना निरहकार "अहकारका अभाव" है और यह निरहंकार शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमे असाधारण कारण है ।।५–६।।

ममत्वं ये प्रकुर्वंति परवस्तुषु मोहिनः ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्तिस्तेषां स्वप्नेऽपि नो भवेत् ।।७।।

अर्थः—जो मूढ़ जीव परपदार्थोंमे ममता रखते हैं, उन्हे अपनाते हैं उन्हे स्वप्नमे भी शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

भावार्थः—ससारमें सिवाय शुद्धचिद्रूपके अपना कोई पदार्थ नही । स्त्री पुत्र मित्र आदि सब पर पदार्थ हैं, इसलिये

जो जीव निज पदार्थ शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति करना चाहते है उन्हे परपदार्थोंमें किसी प्रकारका ममत्व नही रखना चाहिये ॥७॥

शुभाशुभानि कर्माणि मम देहोऽपि वा मम ।
पिता माता स्वसा भ्राता मम जायात्मजात्मजः ॥८॥
गौरश्वोऽजो गजो रा विरापणं मंदिरं मम ।
पूः राजा मम देशश्च ममत्वमिति चिंतनं ॥९॥युग्मं॥

अर्थः—शुभ अशुभ कर्म मेरे है, शरीर, पिता, माता, बहिन, भाई, स्त्री, पुत्र, गाय, अश्व, बकरी, हाथी, धन, पक्षी बाजार, मदिर, पुर, राजा और देश मेरे हैं। इस प्रकार का मनमें चितवन करना ममत्व है अर्थात् इनको अपनाना ममत्व कहलाता है ॥८-९॥

निर्ममत्वेन चिद्रूपप्राप्तिर्जाता मनीषिणां ।
तस्मात्तदर्थिना चिंत्यं तदेवेक मुहुर्मुहुः ॥१०॥

अर्थ'—जिन किन्ही विद्वान मनुष्योको शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हुई है उन्हे शरीर आदि परपदार्थोंमे ममता न रखने से ही हुई है, इसलिये जो महानुभाव शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी है उन्हे चाहिये कि वे निर्ममत्वका ही बार बार चितवन करे, उसीकी ओर अपनी दृष्टि लगाये ॥१०॥

शुभाशुभानि कर्माणि न मे देहोपि नो मम ।
पिता माता स्वसा भ्राता न मे जायात्मजात्मजः ।११।
गौरश्वो गजो रा विरापणं मदिरं न मे ।
पूः राजा मे न देशो निर्ममत्वमिति चिंतनं ॥१२॥युग्मं।

अर्थः—शुभ अशुभ कर्म मेरे नही हैं, देह, पिता, माता, बहिन, भाई, स्त्री, पुत्री, पुत्र, गाय, अश्व, हाथी, धन, पक्षी, बाजार, मदिर, पुर, राजा और देश भी मेरे नही। इसप्रकारका जो मनमे चितवन करना है, वह निर्ममत्व है ॥११–१२॥

ममेति चिंतनाद् बंधो मोचनं न ममेत्यतः।
बंधन द्व्यक्षराभ्या च मोचन त्रिभिरक्षरैः ॥१३॥

अर्थः—स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं। इसप्रकारके विचार करनेसे कर्मोंका बध होता है और ये मेरे नही, ऐसा विचार करनेसे कर्म नष्ट होते है, इसलिये मम (मेरे) ये दो अक्षर तो कर्मबधके कारण है और मम न (मेरे नही) इन तीन अक्षरोंके चितवन करनेसे कर्मोंकी मुक्ति होती है ॥१३॥

निर्ममत्वं परं तत्त्व ध्यानं चापि व्रतं सुख।
शीलं खरोधनं तस्मान्निर्ममत्व विचिंतयेत् ॥१४॥

अर्थ·—यह निर्ममत्व सर्वोत्तम तत्व है, परम ध्यान, परम व्रत, परम सुख, परम शील है और इससे इन्द्रियोके विषयोका निरोध होता है, इसलिये उत्तम पुरुषोको चाहिये कि वे इस शुद्धचिद्रूपका ही ध्यान करें ॥१५॥

याता ये यांति यास्यंति भदंता मोक्षमव्ययं।
निर्ममत्वेन ते तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥१५॥

अर्थः—जो मुनिगण मोक्ष गये, जा रहे हैं और जायेगे उनके मोक्षकी प्राप्तिमे यह निर्ममत्व ही कारण है इसीकी कृपासे उन्हें मोक्षकी प्राप्ति हुई है, इसलिये मोक्षाभिलाषियो को निर्ममत्वका ही ध्यान करना चाहिये ॥१५॥

निर्ममत्वे तपोपि स्यादुत्तमं पंचमं व्रतं ।
धर्मोऽपि परमस्तस्मान्निर्ममत्व विचिंतयेत् ॥१६॥

अर्थः—परपदार्थोंकी ममता न रखनेसे-भले प्रकार निर्ममत्वके पालन करनेसे, उत्तम तप और पाँचवे निष्परिग्रह नामक व्रतका पूर्णरूपसे पालन होता है, सर्वोत्तम धर्मकी भी प्राप्ति होती है इसलिये यह निर्ममत्व ही ध्यान करने योग्य है ॥१६॥

निर्ममत्वाय न क्लेशो नान्ययांचा न चाटनं ।
न चिंता न व्ययस्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥१७॥

अर्थः—इस निर्ममत्वके लिये न किसी प्रकारका क्लेश भोगना पड़ता है, न किसीसे कुछ मागना और न चाटुकार (चापलूसी) करना पडता है। किसी प्रकारकी चिंता और द्रव्यका व्यय भी नही करना पड़ता, इसलिये निर्ममत्व ही ध्यान करनेके योग्य है ॥१७॥

नास्रवो निर्ममत्वेन न बंधोऽशुभकर्मणां ।
नासंयमो भवेत्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥१८॥

अर्थः—इस निर्ममत्वकी ओर झुकनेसे अशुभ कर्मका आस्रव और बध नही होता, सयममे भी किसी प्रकारकी हानि नही आती-वह भी पूर्णरूपसे पलता है, इसलिये यह निर्नमत्व ही चितवन करनेके योग्य पदार्थ है ॥१८॥

सद्दृष्टिर्ज्ञानवान् प्राणी निर्ममत्वेन संयमी ।
तपस्वी च भवेत्तस्मान्निर्ममत्व विचिंतयेत् ॥१९॥

अर्थः—इस निर्ममत्वकी कृपासे जीव सम्यग्दृष्टि, ज्ञान वान, संयमी और तपस्वी कहलाता है, इसलिये जीवोको निर्ममत्वका ही चिंतवन कार्यकारी है ।।१६।।

रागद्वेषादयो दोषा नश्यंति निर्ममत्वतः ।
साम्यार्थी सतत तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ।।२०।।

अर्थ.—इस निर्ममत्वके भलेप्रकार पालन करने से राग द्वेष आदि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं, इसलिये जो मनुष्य समता (शाति) के अभिलाषी है–अपनी आत्माको ससारके दु खोसे मुक्त करना चाहते हैं उन्हे चाहिये कि वे अपने मन को सब ओर से हटाकर शुद्धचिद्रूपकी ओर लगावे–उसीका भलेप्रकार मनन, ध्यान और स्मरण करें ।।२०।।

विचार्येत्थमहंकारममकारौ विमुंचति ।
यो मुनिः शुद्धचिद्रूपध्यानं स लभते त्वरा ।।२१।।

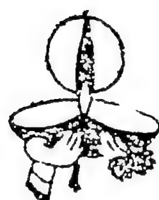
इति मुमुक्षु भट्टारक ज्ञानभूषण विरचितायां तत्वज्ञान तरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपध्यानायाहंकारममकारत्याग-प्रतिपादको दशमोऽध्यायः ।।१०।।

अर्थः—इसप्रकार जो मुनि अहकार और ममकारको अपने वास्तविक स्वरूप–शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके नाश करने वाले समझ उनका सर्वथा त्याग कर देता है, अपने मनको रचमात्र भी उनकी ओर जाने नही देता उसे शीघ्र ही ससार मे शुद्धचिद्रूपके ध्यान की प्राप्ति हो जाती है ।

भावार्थः—हमे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिसे ही निराकुलता-मय सुख मिल सकता है, इसलिये उसीका ध्यान करना

आवश्यक है; परन्तु जब तक स्त्री पुत्र आदि पर पदार्थ मेरे है और मैं उनका हूँ या मैं देह स्वरूप हूं, कर्म स्वरूप हूं ऐसा विचार चित्तमें बना रहता है तब तक कदापि शुद्धचिद्रूपका ध्यान नही हो सकता, इसलिये जो मुनिगण शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे अहंकार, ममकार का सर्वथा त्याग कर दें और शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी ओर अपना चित्त झुकावें ।।२१।।

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारकज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञान तरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपका ध्यान करनेके लिये अहंकार ममकारके त्यागका बतलानेवाला दसवां अध्याय समाप्त हुआ ।।१०।।



"शुद्धचिद्रूपके प्रेमी विरले ही हैं" इस बातको
प्रतिपादन करने वाला

ग्यारहवाँ अध्याय

शांताः पांडित्ययुक्ता यमनियमबलत्यागरैवृत्तवंतः
सद्गोशीलास्तपोर्चानुतिनतिकरणा मौनिनः संत्यसंख्या. ।
श्रोतारश्चकृतज्ञा व्यसनखजयिनोऽत्रोपसर्गेऽपिधीराः
निःसंगाः शिल्पिनः कश्चन भुवि विरलः शुद्धचिद्रूपरक्तः।।१।

अर्थः—यद्यपि संसारमें शातचित्त, विद्वान, यमवान, नियमवान, बलवान, धनवान, चारित्रवान, उत्तमवक्ता, शीलवान, तप, पूजा, स्तुति और नमस्कार करनेवाले, मौनी, श्रोता, कृतज्ञ, व्यसन और इन्द्रियोके जीतने वाले, उपसर्गोके सहनेमे धीरवीर, परिग्रहोसे रहित और नानाप्रकारकी कलाओके जानकार असख्यात मनुष्य है; तथापि शुद्धचिद्रूपके स्वरूपमे अनुरक्त कोई एक विरला ही है ।

भावार्थः—यह ससार नानाप्रकारके जीवोका स्थान है । इसमें बहुतसे मनुष्य शातचित्त हैं तो बहुतसे विद्वान हैं, बहुत से यमवान, नियमवान, बलबान, दानवान, धनवान और चारित्रवान है । अनेक उत्तमवक्ता, शीलवान, तप, पूजा स्तुति और नमस्कार करने वाले भी है, बहुतमे मौनी, श्रोता आदि भी है; परन्तु शुद्धचिद्रूपके स्वरूपमे लीन बहुत ही कम हैं ।।१।।

ये चैत्यालयचैत्यदानमहसद्यात्राकृतौ कौशला
नानाशास्त्रविदः परीषहसहा रक्ताः परोपकृतौ ।

निःसंगाश्च तपस्विनोपि बहवस्ते संति ते दुर्लभा
रागद्वेषविमोहवर्जनपराश्चित्तत्त्वलीनाश्च ये ।।२।।

अर्थः—संसारमें अनेक मनुष्य जिनमंदिरोंका निर्माण, प्रतिमाओंका दान, उत्सव और तीर्थोंकी यात्रायें करनेमें प्रवीण है, नानाशास्त्रके जानकार, परिषहोंके सहन करनेवाले, परोपकारमे रत, समस्त प्रकारके परिषहोंसे रहित और तपस्वी भी हैं; परन्तु रागद्वेष और मोहके सर्वथा नाश करनेवाले एवं शुद्धचिद्रूपरूपी तत्वमें लीन बहुत ही थोड़े हैं ।।२।।

गणकचिकित्सकतार्किक पौराणिक वास्तु शब्दशास्त्रज्ञाः ।
संगीतादिषु निपुणाः सुलभा न हि तत्त्ववेत्तारः ।।३।।

अर्थः—ज्योतिषी, वैद्य, नैयायिक, पुराणके वेत्ता पदार्थ विज्ञानी, व्याकरण शास्त्रके जानकार और सगीत आदि कलाओमें भी प्रवीण बहुतसे मनुष्य हैं; परन्तु तत्त्वोके जानकार नही ।।३।।

सुरूपबललावण्यधनापत्यगुणान्विताः ।
गांभीर्यधैर्यधौरेयाः संत्यसख्या न चिद्रताः ।।४।।

अर्थः—उत्तम रूप, बल, लावण्य, धन, संतान और गुणोसे भी बहुतसे मनुष्य भूषित है, गभीर, धीर और वीर भी असख्यात है, परन्तु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमे लोन बहुत ही कम मनुष्य है ।।४।।

जलद्यूतवनस्त्रीविपुद्धगोलकगीतिषु ।
क्रीडतोऽत्र विलोक्यंते घनाः कोऽपि चिदात्मनि ।।५।।

अर्थः—अनेक मनुष्य जलक्रीडा, जूआ, वन विहार, स्त्रियोके विलास, पक्षियोके युद्ध, गोलीमार क्रीडा और गायन आदिमे भी दत्तचित्त दिखाई देते हैं; परन्तु चिदात्मामें विहार करनेवाला कोई विरला ही दिखता है। ॥५॥

सिंहसर्पगजव्याघ्राहितादीनां वशीकृतौ ।
रताः संत्यत्र बहवो न ध्याने स्वचिदात्मन ॥६॥

अर्थः—इस ससारमे बहुतसे मनुष्य, सिंह, सर्प, हाथी, व्याघ्र और अहितकारी शत्रु आदिके भी वश करनेवाले हैं; परन्तु शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेवाले नही ॥६॥

जलाग्निरोगराजाहिचौरशत्रुनभस्वतां ।
दृश्यते स्तंभने शक्ता नान्यस्य स्वात्मचिंतया ॥७॥

अर्थ —जल, अग्नि, रोग, राजा, सर्प, चोर, वैरी और पवनके स्तभन करनेमे–उनकी शक्ति को दबाने मे भी बहुतसे मनुष्य समर्थ हैं; परन्तु आत्मध्यान द्वारा पर पदार्थोंसे अपना मन हटानेके लिये सर्वथा असमर्थ हैं।

भावार्थ.—यद्यपि जल, अग्नि, रोग, राजा, सर्प, चोर और वैरी आदि पदार्थ ससारमें अत्यत भयंकर हैं। इनसे अपनी रक्षा कर लेना अति कठिन बात है, तथापि बहुतसे ऐसे भी बलवान मनुष्य है जो इन्हें देखते ही देखते वश कर लेते हैं; परन्तु वे भी अपने आत्मध्यानके बलसे परपदार्थोंसे ममत्व दूर करनेमे सर्वथा असमर्थ हैं ॥७॥

प्रतिक्षणं प्रकुर्वंति चिंतनं परवस्तुनः ।
सर्वे व्यामोहिता जीवाः कदा कोऽपि चिदात्मनः ॥८॥

अर्थः—इस संसारमे रहनेवाले जीव प्राय. मोहके जालमे जकड़े हुये है। उन्हे अपनी सुध बुधका कुछ भी होश हवास नही है, इसलिये प्रति क्षण वे परपदार्थोंका ही चितवन करते रहते हैं, उन्हे ही अपनाते हैं, परन्तु शुद्धचिदात्माका कोई विरला ही चितवन करता है ॥८॥

दृश्यंते बहवो लोके नानागुणविभूषिता ।
विरलाः शुद्धचिद्रूपे स्नेहयुक्ता व्रतान्विताः ॥९॥

अर्थः—बहुतसे मनुष्य ससारमे नानाप्रकारके गुणोसे भूषित रहते है; परन्तु ऐसे मनुष्य विरले ही है जो शुद्ध चिद्रूपमे स्नेह करनेवाले और व्रतोसे भूषित हो ॥९॥

एकेन्द्रियाद्यसंज्ञाख्या पूर्णपर्यंतदेहिनः ।
अनंतानंतमाः संति तेषु न कोऽपि तादृशः ॥१०॥
पंचाक्षसंज्ञिपूर्णेषु केचिदासन्नभव्यतां ।
नत्वं चालभ्य तादृक्षा भवंत्यार्या सुबुद्धयः ॥११॥

अर्थ—एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय पर्यन्त जो जीव इस संसारमे अनंतानत भरे हुये है उनमे तो शुद्ध-चिद्रूपके ध्यान करनेकी सामर्थ्य ही नही है, परन्तु जो जीव पचेन्द्रिय संज्ञी—मनसहित है उनमे भी जो आर्य—स्वपर स्वरूपके भलेप्रकार जानकार है और आसन्न भव्य बहुत शीघ्र मोक्षप्राप्त करनेवाले है वे ही शुद्धचिद्रूपका ध्यान कर सकते हैं ॥१०-११॥

शुद्धचिद्रूपसलीनाः सन्नता न कदाचन ।
नरलोकबहिर्भागेऽसंख्यात द्वीपवार्धिषु ॥१२॥

अर्थ:—अढाई द्वीप तक मनुष्य क्षेत्र है और उससे आगे असख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनमे रहनेवाले भी जीव कभी भी शुद्धचिद्रूपमे लीन और व्रतोसे भूषित नही हो सकते।।१२।।

अधोलोके न सर्वस्मिन्नूर्ध्वलोकेऽपि सर्वतः।
ते भवंति न ज्योतिष्के हा हा क्षेत्रस्वभावतः ।।१३।।

अर्थ —समस्त अधोलोक, ऊर्ध्वलोक और ज्योतिर्लोक मे भी क्षेत्रके स्वभावसे जीव शुद्धचिद्रूपका ध्यान और व्रतो का आचरण नही कर सकते ।।१३।।

नरलोकेपि ये जाता नराः कर्मवशाद् घनाः।
भोगभूम्लेच्छखंडेषु ते भवंति न तादृशाः ।।१४।।

अर्थः–मनुष्य क्षेत्रमे भी जो जीव भोगभूमि और म्लेच्छ-खडमे उत्पन्न हुये है उन्हे भी सघनरूपसे कर्मों द्वारा जकड़े हुये होनेके कारण शुद्धचिद्रूपका ध्यान और व्रतोका आचरण करनेका अवसर प्राप्त नही होता ।।१४।।

आर्यखडभवाः केचिद् विरलाः संति तादृशाः।
अस्मिन् क्षेत्रे भवा द्वित्राः स्युरद्य न कदापि वा ।।१५।।

अर्थः—परन्तु जो जीव आर्यखण्डमे उत्पन्न हुए है, उनमेसे भी विरले ही शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रतोके पालक होते है तथा इस भरतक्षेत्रमे उत्पन्न होने वाले तो इस समय दो तीन ही हैं अथवा है ही नही ।।१५।।

अस्मिन् क्षेत्रेऽधुना संति विरला जैनपाक्षिकाः।
सम्यक्त्वसहितास्तत्र तत्राणुव्रतधारिणः ।।१६।।

महाव्रतधरा धीराः संति चात्यंत दुर्लभाः ।
तत्त्वातत्त्वविदस्तेषु चिद्रक्तोऽत्यंतदुर्लभः ।।१७।।

अर्थः—इस क्षेत्रमें प्रथम तो इस समय सम्यग्दृष्टि पाक्षिक जैनी ही विरले हैं यदि वे भी मिल जाँय तो अणुव्रत धारी मिलने कठिन है। अणुव्रत धारी भी हो तो धीर वीर महाव्रत धारी दुर्लभ है। यदि वे भी हो तो तत्त्व अतत्वोके जानकार बहुत कम हैं। यदि वे भी प्राप्त हो जाय तो शुद्ध चिद्रूपमे रत मनुष्य अत्यत दुर्लभ हैं।

भावार्थः—इस ससारमे सदा अनंत जीव निवास करते रहते हैं। उनमे जिनवचन और जिनेन्द्रदेवके श्रद्धानी पाक्षिक मनुष्य बहुत कम है, उनसे भी कम अणुव्रतोंके पालक है, उनसे भी कम धीर वीर महाव्रती है, महाव्रतियोंसे कम तत्त्व अतत्वोंके जानकार है और उनसे भी कम चिद्रूपके प्रेमी है, इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिको अतिदुर्लभ मान उसीका ध्यान करे ।।१६-१७।।

तपस्विपात्रविद्वत्सु गुणिसद्गतिगामिषु ।
वंद्यस्तुत्येषु विज्ञेयः स एवोत्कृष्टतां गतः ।।१८।।

अर्थः—जो महानुभाव शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें अनुरक्त हैं वे ही तपस्वी उत्तमपात्र, विद्वान, गुणी, समीचीन मार्गके अनुगामी और उत्तम वदनीक स्तुत्य मनुष्योमे उत्कृष्ट है।१८।

उत्सर्पिण्यवसर्पणकालेऽनाद्यंतवर्जिते स्तोकाः ।
चिद्रक्ता व्रतयुक्ता भवंति केचित्कदाचिच्च ।।१९।।

अर्थः—इस अनादि अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रतोंके धारक बहुत ही कम

मनुष्य होते हैं और वे भी कभी किसी समय, प्रतिसमय नही।

भावार्थः– जिसमे मनुष्योंकी आयु, बल, वीर्य आदि वृद्धिगत हो वह उत्सर्पिणी काल है और जिसमे आयु आदि की कमी होती जाय उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। यह जो काल का अनादि अनत प्रवाह है उसमें कभी किसी समय शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रतोके पालक मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं, प्रति समय नही तथा वे भी बहुत कम। अधिक नहीं।१६।

मिथ्यात्वादिगुणस्थानचतुष्के सभवंति न।
शुद्धचिद्रूपके रक्ता व्रतिनोपि कदाचन ॥२०॥
पचमादिगुणस्थानदशके तादृशोंऽगिनः।
स्युरिति ज्ञानिना ज्ञेय स्तोकजीवसमाश्रिते ॥२१॥

अर्थः—मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान पर्यन्त जीव कभी भी शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रती नही हो सकते, किन्तु देशविरत पचम गुणस्थानसे लेकर अयोग केवलो नामक चौदहवे गुणस्थान पर्यन्तके जीव ही शुद्धचिद्रूपके ध्यानी और व्रती होते हैं, इसलिए शुद्धचिद्रूप का ध्यान और व्रतोका ज्ञान बहुत थोडे जीवो मे है।

भावार्थः—मिथ्यात्व सासादन मिश्र अविरत सम्यग्दृष्टि देशविरतको आदि लेकर अयोग केवलीपर्यन्त चौदह गुण-स्थान हैं। उनमें आदिके चार गुणस्थानवर्ती जीवोंके न तो शुद्धचिद्रूपमे लीनता हो सकती है और न वे किसी प्रकारके व्रत ही पाल सकते है, क्योकि चौथे गुणस्थानमे आकर केवल

श्रद्धान ही होता है; परन्तु पाँचवेंसे लेकर चौदहवे गुणस्थान तकके जीव व्रती शुद्धचिद्रूपके ध्यानी होते हैं, इसलिए शुद्ध-चिद्रूपके प्रेमी और व्रती मनुष्य बहुत ही थोड़े है ।।२०-२१।।

दृश्यंते गंधनादावनुजसुतसुतामीरुपित्रंबिकासु
ग्रामे गेहे खभोगे नगनगरखगे वाहने राजकार्ये ।
आहार्येऽगे वनादौ व्यसनकृषिमुखेकूपवापीतडागे
रक्ताश्च प्रेषणादौयशसि पशुगणे शुद्धचिद्रूपके न ।।२२

इति मुमुक्षुभट्टारकश्रीज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञान-तरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपासक्तो विरल इति-प्रतिपादक एकादशोऽध्यायः ।।११।।

अर्थः—इस संसारमे कोई मनुष्य तो इत्र फुलेल आदि सुगंधित पदार्थोमे अनुरक्त है और बहुतसे छोटा भाई, पुत्र, पुत्री, स्त्री, पिता, माता, गाव, घर इन्द्रियोके भोग, पर्वत, नगर, पक्षी, सवारी, राजकार्य, खाने योग्य पदर्थ, शरीर, वन, व्यसन, खेती, कुंआ बावड़ी और तालाबोमे प्रेम करने वाले है और बहुतसे अन्य मनुष्योंके इधर उधर भेजनेमें, यश और पशु गणोकी रक्षा करनेमे अनुराग करने वाले हैं, परन्तु शुद्धचिद्रूपके अनुरागी कोई भी मनुष्य नही है ।

भावार्थः—ससारमे मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकृतियोके हैं और उन्हें प्रीति उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी भिन्न भिन्न हैं । अनेक मनुष्य ऐसे हैं जो इत्र फुलेल आदि सुगंधित पदार्थोको ही प्रिय और उत्तम मानते हैं । बहुतो को छोटे भाई, पुत्र, पुत्री, स्त्री, पिता, माता, गांव, घर इन्द्रियो के भोग, पर्वत नगर, पक्षी, सवारी, राजाके कार्य, खाने योग्य पदार्थ, वन,

व्यसन, खेती, कूप और तालाब अति प्यारे लगते हैं। बहुतसे भृत्योंको जहां तहां भेजना यशप्राप्ति और पशुगणोंकी रक्षाको ही अतिप्रिय मानते हैं; परन्तु शुद्धचिद्रूपमे किसीका भी प्रेम नही है, इसलिए बाह्य पदार्थोमे व्यर्थ मुग्ध होकर आत्मिक शुद्धचिद्रूपकी ओर जरा भी ध्यान नही देते ॥२२॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्वज्ञान तरंगिणीमें "शुद्धचिद्रूपके प्रेमी विरले ही हैं" इस बातको प्रतिपादन करने वाला ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥११॥



शुद्ध चिद्रूपकी प्राप्तिमें असाधारण कारण रत्नत्रय है, इस बातको बतलाने वाला

बारहवाँ अध्याय

रत्नत्रयोपलभेन बिना शुद्धचिदात्मनः ।
प्रादुर्भावो न कस्यापि श्रूयते हि जिनागमे ॥१॥

अर्थः—जैन शास्त्रसे यह बात जानी गई है कि बिना रत्नत्रयको प्राप्त किए आज तक किसी भी जीवको शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति न हुई । सबको रत्नत्रयके लाभके बाद ही हुई है ।

भावार्थः— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन तीन आत्माके गुणोंको रत्नत्रय कहते है और ये तीनों शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमे असाधारण कारण है, इसलिए बिना रत्नत्रयके लाभके किसीको भी शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नही हो सकती । जिन्हे भी उसकी प्राप्ति हुई है उन्हे प्रथम प्रथम रत्नत्रयकी प्राप्ति हो गई और उसके बाद ही शुद्धचिद्रूपका लाभ हुआ है ॥१॥

विना रत्नत्रयं शुद्धचिद्रूप न प्रपन्नवान् ।
कदापि कोऽपि केनापि प्रकारेण नरः क्वचित् ॥२॥

अर्थः—बिना रत्नत्रयको प्राप्त किये आजतक किसी मनुष्यने कही और कभी भी किसी दूसरे उपायसे शुद्धचिद्रूप को प्राप्त न किया । सभीने पहिले रत्नत्रयको पाकर ही शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति की है ॥२॥

रत्नत्रयाद्विना चिद्रूपोपलब्धिर्न जायते ।
यर्थद्धिस्तपसः पुत्री पितुर्वृष्टिर्वलाहकात् ॥३॥

अर्थः—जिसप्रकार तपके बिना ऋद्धि, पिताके बिना पुत्री और मेघके बिना वर्षा नही हो सकती, उसीप्रकार बिना रत्नत्रयकी प्राप्तिके शुद्धचिद्रूपकी भी प्राप्ति नही हो सकती ।

भावार्थ.—जिसप्रकार ऋद्धिकी प्राप्तिमे तप, पुत्रीकी उत्पत्तिमे पिता और वर्षाको उत्पत्तिमे मेघ असाधारण (निमित्त) कारण है, बिना तप आदिके ऋद्धि आदिकी प्राप्ति नही हो सकती, उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमे असाधारण कारण रत्नत्रय है । बिना इसको प्राप्त किए शुद्धचिद्रूपका लाभ नही हो सकता ॥३॥

दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूपात्मप्रवर्त्तनं ।
युगपद् भण्यते रत्नत्रयं सर्वजिनेश्वरैः ॥४॥

अर्थः—भगवान जिनेश्वरने एक साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप आत्माकी प्रवृत्तिको रत्नत्रय कहा है ।

भावार्थः—गुण गुणीसे कभी भिन्न नहीं हो सकते, इसलिए जितने गुण हैं वे अपने गुणियोके स्वरूप हैं । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी आत्माके गुण हैं, न कभी ये आत्मा से जुदे रह सकते हैं और न सिवाय आत्माके किसी पदार्थमे ही पाए जाते हैं । हा यह बात अवश्य है कि विरोधी कर्मोंकी मौजूदगीमे ये प्रच्छन्न रूपसे रहते हैं, परन्तु जिस समय इनके विरोधी कर्म नष्ट हो जाते हैं और

ये तीनो एक साथ आत्मामें प्रकट हो जाते हैं उसी समयकी अवस्थाको रत्नत्रयकी प्राप्ति कहते हैं और रत्नत्रयकी प्राप्ति ही शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमे असाधारण कारण है ॥४॥

निश्चयव्यवहाराभ्यां द्विधा तत्परिकीर्त्तितं ।
सत्यस्मिन् व्यवहारे तन्निश्चयं प्रकटीभवेत् ॥५॥

अर्थः—यह रत्नत्रय निश्चय और व्यवहारके भेद से दो प्रकार का है और व्यवहार रत्नत्रयके होते ही निश्चय रत्नत्रय की प्रकटता होती है ।

भावार्थः—जीव आदि पदार्थोंका श्रद्धान, ज्ञान और "कर्मोंके नष्ट करनेके लिये तप आदि करना" चारित्र, यह तो व्यवहार रत्नत्रय है और निश्चय रत्नत्रय आत्मस्वरूप है; परन्तु बिना व्यवहार रत्नत्रयके निश्चय रत्नत्रय कभी प्राप्त नही हो सकता, इसलिये निश्चय रत्नत्रयमे व्यवहार रत्नत्रय कारण है ॥५॥

श्रद्धानं दर्शनं सप्ततत्त्वानां व्यवहारतः ।
अष्टागं त्रिविधं प्रोक्तं तदौपशमिकादितः ॥६॥

अर्थः—व्यवहारनयसे सातो तत्वोका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और इसके आठ अग है तथा औपशमिक, क्षायिक एव क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है ।

भावार्थः—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष ये सात तत्व हैं, इनमे भगवान जिनेन्द्र ने जो इनका स्वरूप बतलाया है वह उसी प्रकार से है अन्यथा नही, इसप्रकारका श्रद्धान-विश्वास रखना व्यवहार सम्यग्दर्शन है ।

इसके निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग हैं और औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भेद हैं ॥६॥

सता वस्तूनि सर्वाणि स्याच्छब्देन वचांसि च ।
चिता जगति व्याप्तानि पश्यन् सद्दृष्टिरुच्यते ॥७॥

अर्थः—जो महानुभाव सत्‌रूपसे समस्त पदार्थोंका विश्वास करता है, अनेकात रूपसे समस्त वचनोको बोलता है और जिसको यह श्रद्धान है कि समस्त जगत् ज्ञानसे व्याप्त है, वह सम्यग्दृष्टि है ।

भावार्थः—मेरु आदि पदार्थ ऐसे है जिन्हे नेत्रसे नही देख सकते और सर्वज्ञके वचनसे उनके अस्तित्वका निश्चय कर उनकी मौजूदगीका श्रद्धान करना पड़ता है, इसलिये जिस महानुभावको मेरु आदिके अस्तित्वसे उनके मौजूदगीका श्रद्धान है । वचनोमे किसी प्रकारका विरोध न आ जाय, इसलिये जो अनेकान्तवाद पर पूर्ण विश्वास कर उसकी सहायतासे वचन बोलता है और यह समस्त जगत् ज्ञान के गोचर है—इसके मध्यमे रहनेवाले पदार्थ ज्ञानके द्वारा स्पष्ट रूपसे जाने जा सकते हैं । ऐसा जिसको पूर्ण श्रद्धान है वह व्यवहारनयसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है ॥७॥

स्वकीये शुद्धचिद्रूपे रुचिर्या निश्चयेन तत् ।
सद्दर्शनं मतं तज्ज्ञैः कर्मेंधनहुताशन ॥८॥

अर्थः—आत्मिक शुद्धचिद्रूपमे जो रुचि करना है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है और यह कर्मरूपी ईंधनके लिये जाज्व-

ल्यमान अग्नि है । निश्चय सम्यग्दर्शनके आश्रयसे समस्त कर्म जलकर खाक हो जाते हैं ॥८॥

यदि शुद्धं चिद्रूपं निजं समस्तं त्रिकालगं युगपत् ।
जानन् पश्यन् पश्यति तदा स जीवः सुदृक् तत्त्वात् ॥९॥

अर्थः—जो जीव तीन कालमे रहने वाले आत्मिक शुद्ध समस्त चिद्रूपको एक साथ जानता देखता है, वास्तविक दृष्टिसे वही सम्यग्दृष्टि है ।

भावार्थः—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा समस्त पदार्थ परिवर्तनशील है । प्रतिक्षण सबकी पर्यायें बदलती रहती है । आत्मा का भी ज्ञान दर्शन आदि चेतनाओं का प्रति समय परिवर्तन हुआ करता है, इसलिये जो जीव त्रिकालवर्ती अपने समस्त शुद्धचिद्रूपको एक साथ जानता देखता है, वास्तवमे वही सम्यग्दृष्टि है ॥९॥

ज्ञात्वाष्टांगानि तस्यापि भाषितानि जिनागमे ।
तैरमा धार्यते तद्धि मुक्तिसौख्याभिलाषिणा ॥१०॥

अर्थः—जो महानुभाव मोक्ष सुखके अभिलाषी है । मोक्षकी प्राप्तिसे ही अपना कल्याण समझते है वे जैनशास्त्रमे वर्णन किये गये सम्यग्दर्शनको उसके आठ अंगोंके साथ धारण करते हैं ।

भावार्थः—तत्त्वोंका स्वरूप यही है और ऐसा ही है, भगवान जिनेन्द्रने जो कुछ उनके विषयमें कहा है उससे अन्यथा नही हो सकता । इसप्रकार जैन शास्त्र और जिन भगवानमे जो गाढ रुचि रखना है, वह निःशंकितांग है । देव

और मनुष्य भवके सुखको पापका कारण जान उसके लिये लालसा प्रकट न करना निःकांक्षितअंग है। महा अपवित्र इस शरीरसे निकलते हुए रुधिर आदिको देखकर ग्लानि न करना दूसरोंको रुग्ण देख उनसे मुख न मोडना निर्विचिकित्सित अंग है। मिथ्यामार्ग व उनके भक्तोंसे किसी प्रकारका धार्मिक संबंध न रखना, उनके मिथ्यात्वकी अपने मुखसे प्रशंसा न करना अमूढदृष्टि अंग है। यदि कोई अज्ञानी पवित्र जैनमार्ग की निन्दा करे तो उसके दूर करनेका उपाय करना उपगूहन अंग है। सम्यग्दर्शन आदिसे विचलित मनुष्य को पुनः सम्यग्दर्शन आदिमें दृढ कर देना स्थितिकरण अंग है। सह-धर्मी भाइयोंमें गौ-वछडेके समान प्रीति रखना वात्सल्य अंग है। जैनमार्गके अतिशय प्रकट करनेके लिये विद्यालय खोलना आदि उपाय करना प्रभावना अंग है। जो महानुभाव इन आठों अंगोंके साथ साथ सम्यग्दर्शन धारण करता है, उसे मोक्षकी अवश्य प्राप्ति होती है ।।१०।।

अष्टधाचारसंयुक्तं ज्ञानमुक्तं जिनेशिना ।
व्यवहारनयात् सर्वतत्त्वोद्भासोभवेद्यतः ।।११।।
स्वरूपपरिज्ञानं तज्ज्ञानं निश्चयाद् वरं ।
कर्मरेणूच्चये वात हेतुं विद्धि शिवश्रियः ।।१२।।

अर्थ.—भगवान जिनेन्द्रने व्यवहारनयसे आठ प्रकारके आचारोंसे युक्त ज्ञान बतलाया है और उससे समस्त पदार्थों का भलीप्रकार प्रतिभास होता है, परन्तु जिससे स्वस्वरूपका ज्ञान हो, जो शुद्धचिद्रूपको जाने वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है। यह निश्चय सम्यग्ज्ञान समस्त कर्मोंका नाशक है और मोक्ष

रूपी लक्ष्मीकी प्राप्तिमे परम कारण है, इससे मोक्ष सुख अवश्य प्राप्त होता है ॥११-१२॥

यदि चिद्रूपेऽनुभवो मोहाभावे निजे भवेत्तत्वात् ।
तत्परमज्ञानं स्याद्बहिरंतर संगमुक्तस्य ॥१३॥

अर्थः—मोहके सर्वथा नाश हो जाने पर बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोसे रहित पुरुषका जो आत्मिक शुद्ध-चिद्रूपका अनुभव करना है, वही वास्तविकरूपसे परम ज्ञान है ॥१३॥

निवृत्तिर्यत्र सावद्यात् प्रवृत्तिः शुभकर्मसु ।
त्रयोदशप्रकारं तच्चारित्र व्यवहारतः ॥१४॥

अर्थः—जहा पर सावद्य हिंसाके कारणरूप पदार्थोंसे निवृत्ति और शुभकार्यमे प्रवृत्ति हो उसे व्यवहार चारित्र कहते हैं और वह तेरह प्रकारका है ।

भावार्थः— अशुभकार्यसे निवृत्ति और शुभकार्यमे प्रवृत्ति करना व्यवहार चारित्र है और वह अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रह ये पाच प्रकारके व्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग ये पाच समितियां एवं वाग्गुप्ति, कायगुप्ति और मनोगुप्ति ये तीन प्रकारकी गुप्तियाँ इस तरह तेरह प्रकारका है ॥१४॥

मूलोत्तरगुणानां यत्पालनं मुक्तये मुने ।
दृशा ज्ञानेन संयुक्तं तच्चारित्रं न चापरं ॥१५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ जो मूल और उत्तर गुणोका पालन करना है वह चारित्र है, अन्य नही तथा यही चारित्र मोक्षका कारण है ॥१५॥

संगं मुक्त्वा जिनाकारं धृत्वा साम्य दृशं धियं ।
यः स्मरेत् शुद्धचिद्रूपं वृत्तं तस्य किलोत्तम ॥१६॥

अर्थः—बाह्य अभ्यंतर दोनो प्रकारके परिग्रहोका सर्वथा त्यागकर, नग्नमुद्रा, समता, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का धारक होकर जो शुद्धचिद्रूपका स्मरण करता है, उसी को उत्तम चारित्र होता है ॥१६॥

ज्ञप्त्याद्दष्टया युतं सम्यक्चारित्रं तन्निरुच्यते ।
सतां सेव्यं जगत्पूज्यं स्वर्गादि सुख साधनं ॥१७॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ ही सम्यक्चारित्र सज्जनोंको आचरणीय है और वह ही समस्त संसार मे पूज्य तथा स्वर्ग आदि सुखोको प्राप्त कराने वाला है ।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो ऐसे कारण हैं कि इनमे एक भी कम हो जाने पर मोक्ष सुख नहीं मिल सकता । यदि चाहे कि बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके केवल सम्यक्चारित्रसे ही मोक्ष सुख मिल जाय तो यह कभी नही हो सकता; किन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ रहने वाले सम्यक् चारित्रसे ही मोक्ष सुख मिल सकता है, इसलिये ऐसा चारित्र ही सज्जनों का परम आदरणीय और जगत्पूज्य है ॥१७॥

शुद्धे स्वे चित्स्वरूपे या स्थितिरत्यंतनिश्चला ।
तच्चारित्रं परं विद्धि निश्चयात्कर्मनाशकृत् ॥१८॥

अर्थः—आत्मिक शुद्धस्वरूपमे जो निश्चलरूपसे स्थिति है, उसे निश्चयचारित्र कहते हैं और इस चारित्रकी प्राप्तिसे

समस्त कर्मोंका अवश्य ही नाश हो जाता है अर्थात् निश्चय चारित्रके प्राप्त होते ही जीव समस्त कर्मोंका नाशकर सिद्ध शिला पर जा विराजते हैं ॥१८॥

यदि चिद्रूपे शुद्धे स्थितिर्निजे भवति दृष्टिबोधबलात् ।
परद्रव्यस्यास्मरणं शुद्धनयादंगिनो वृत्तं ॥१९॥

अर्थः—यदि इस जीवकी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बलसे शुद्धचिद्रूपमें निश्चलरूपसे स्थिति हो जाय और पर पदार्थोंसे सर्वथा प्रेम हट जाय, तो उसीको शुद्धनिश्चयनयसे चारित्र समझना चाहिये ।

भावार्थ.—जब तक शुद्धचिद्रूपमें निश्चलरूपसे स्थिति नही होती और पर पदार्थोंसे प्रेम नही हटता तब तक कदापि निश्चय चारित्रकी प्राप्ति नही हो सकती, इसलिये निश्चय चारित्रकी प्राप्तिके अभिलापी विद्वानोको चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपमें निश्चलरूपसे स्थिति करे और पर पदार्थोंसे प्रेम हटावें ॥१९॥

रत्नत्रयं किल ज्ञेयं व्यवहारं तु साधनं ।
सद्भिश्च निश्चयं साध्यं मुनीनां सद्विभूषणं ॥२०॥

अर्थः—निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्तिमे व्यवहार रत्नत्रय साधन (कारण) है और निश्चय रत्नत्रय साध्य है तथा यह निश्चय रत्नत्रय मुनियोका उत्तम भूषण है ॥२०॥

रत्नत्रय परं ज्ञेय व्यवहारं च निश्चयं ।
निदान शुद्धचिद्रूप स्वरूपात्मोपलब्धये ॥२१॥

अर्थः—यह व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकारका रत्नत्रय शुद्धचिद्रूपके स्वरूपकी प्राप्तिमे असाधारण कारण है। बिना दोनो प्रकारके रत्नत्रयको प्राप्त किये कदापि शुद्ध चिद्रूपके स्वरूपका ज्ञान नही हो सकता ॥२१॥

स्वशुद्धचिद्रूपपरोपलब्धिः कस्यापि रत्नत्रयमंतरेण ।
क्वचित्कदाचन्न च निश्चयो दृढोऽस्ति चित्ते मम सर्व दैव ।२२।

इति मुमुक्षुभट्टारक ज्ञानभूषण विरचितायां तत्त्वज्ञान तरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्त्यै रत्नत्रय प्रतिपादको द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

अर्थः—इस शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति बिना रत्नत्रयके आज तक कभी और किसी देशमे नही हुई। सबको रत्नत्रयकी प्राप्तिके अनंतर ही शुद्धचिद्रूपका लाभ हुआ है यह मेरी आत्मामें दृढ रूपसे निश्चय है ॥२२॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्त्वज्ञान तरंगिणोमें 'शुद्धचिद्रूपकीप्राप्तिमें असाधारण कारण रत्नत्रय है' इस बातको बतलानेवाला बारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१२॥



शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये विशुद्धिकी प्राप्तिका
उपाय प्रतिपादन करने वाला

तेरहवाँ अध्याय

विशुद्धं वसन श्लाघ्यं रत्नं रूप्यं च कांचनं ।
भाजनं भवनं सर्वैर्यथा चिद्रूपकं तथा ।।१।।

अर्थः— जिसप्रकार निर्मल वस्त्र, रत्न, चादी, सोना, पात्र और भवन आदि पदार्थ उत्तम और प्रशस्य गिने जाते है, उसीप्रकार यह शुद्धचिद्रूप भी अति उत्तम और प्रशस्य है ।।१।।

रागादिलक्षणः पुंसि संक्लेशोऽशुद्धता मता ।
तन्नाशो येन चांशेन तेनांशेन विशुद्धता ।।२।।

अर्थः—पुरुषमें रागद्वेष आदि लक्षणका धारक संक्लेश, अशुद्धपना कहा जाता है और जितने अशमे रागद्वेष आदि का नाश हो जाता है उतने अंशमें विशुद्धपना कहा जाता है ।

भावार्थः—यदि शुद्धनिश्चयनयसे देखा जाय तो यह आत्मा सर्वथा विशुद्ध है, परन्तु रागद्वेष आदिके सबधसे अशुद्ध हो जाता है, किन्तु जितने अशमे रागद्वेप आदि नष्ट हो जाते है। उतने अशमे यह शुद्ध होता चला जाता है ।।२।।

येनोपायेन संक्लेशश्चिद्रूपाद्याति वेगतः ।
विशुद्धिरेति चिद्रूपे स विधेयो मुमुक्षुणा ।।३।।

अर्थः—जो जीव मोक्षाभिलाषी है-अपनी आत्माको समस्त कर्मोसे रहित करना चाहते है, उन्हें चाहिये कि जिस

उपायसे यह सक्लेश दूर हो विशुद्धपना आवे वह उपाय अवश्य करे ।।३।।

सत्पूज्यानां स्तुतिनतियजनं षट्कर्मावश्यकानां
वृत्तादीनां दृढतरधरणं सत्तपस्तीर्थयात्रा ।
संगादीनां त्यजनमजननं क्रोधमानादिकाना-
माप्तैरुक्तं वरतरकृपया सर्वमेतद्धि शुद्धयै ।।४।।

अर्थः—जो पुरुष उत्तम और पूज्य हैं उनकी स्तुति, नमस्कार और पूजन करना, सामायिक प्रतिक्रमण आदि छै प्रकारके आवश्यकोका आचरण करना, सम्यक्चारित्रको दृढ रूपसे धारण करना, उत्तम तप और तीर्थयात्रा करना, बाह्य अभ्यतर दोनो प्रकारके परिग्रहोका त्याग करना तथा क्रोध, मान, माया आदि कषायोको उत्पन्न न होने देना आदि विशुद्धिके कारण है, विना इन बातोके आचरण किये विशुद्धि नही हो सकती ।

भावार्थः—उत्तम मुनि आदि महापुरुषोकी विनय आदि करनेसे, सामायिक आदि आवश्यकोके आचरणसे, सम्यक्-चारित्रके पालनसे, उत्तम तप, तीर्थयात्राके करनेसे, परिग्रहो के त्यागसे और क्रोध आदि कषायोके उत्पन्न न होने देनेसे कर्मोंका नाश होता है और कर्मोंके नाशसे आत्मामे विशुद्ध-पना आता है, इसलिये जो मनुष्य अपने आत्माकी विशुद्धताके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे उपर्युक्त बातों पर अवश्य ध्यान दे और अपनी आत्माको शुद्ध बनावे ।।४।।

रागादिविक्रिया दृष्ट्वा संगितां क्षोभादि मा व्रज ।
भवे तदितरं किं स्यात् स्वच्छं शिवपदं स्मर ।।५।।

अर्थः—हे आत्मन् ! मनुष्योंमें रागद्वेष आदिका विकार देख तुझे किसी प्रकार क्षोभ नहीं करना चाहिये; क्योंकि संसारमें सिवाय राग आदिके विकारके और होना ही क्या है ? इसलिये तू अतिशय विशुद्ध मोक्षमार्गका ही स्मरण कर ।

भावार्थः—प्रायः संसारमें यह बात प्रत्यक्ष गोचर होती है कि कही रागके संबंधसे नानाप्रकारके विकार देखनेमें आते है और कहीं द्वेष और मोहके संबंधसे, परन्तु रागद्वेष आदिका विकार देख किसी प्रकार क्षोभ न करना चाहिये; क्योंकि इसका नाम संसार है और इसमें रागद्वेष विकारोके सिवाय उत्तम बात होनी कठिन है, इसलिये हे आत्मन् ! यदि तू रागद्वेष आदिके विकारोसे रहित होना चाहता है, तो तू मोक्षमार्गका स्मरण कर उसीसे तेरा कल्याण होगा ॥५॥

विपर्यस्तो मोहादहमिह विवेकेन रहितः
सरोगो निःस्वो वा विमतिरगुणः शक्ति विकलः ॥
सदा दोषी निंद्योऽगुरु विधिर कर्मा हि वचनं
वदन्नंगी सोयं भवति भुवि वैशुद्धय सुखभाग् ॥६॥

अर्थः—मैं मोहके कारण विपर्यस्त होकर ही अपनेको विवेकहीन; रोगी; निर्धन, मतिहीन, अगुणी, शक्तिरहित दोषी, निन्दनीय, हीन क्रियाका करनेवाला; अकर्मण्य, आलसी मानता हूं । इसप्रकार वचन बोलने वाला विशुद्धताके सुखका अनुभव करता है ।

भावार्थः—मैं वास्तविक दृष्टिसे शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ। सब पदार्थोंका ज्ञाता-दृष्टा और सदा आनन्द स्वरूप हूँ। किन्तु अज्ञानवश मोहके जालमे फँसकर मैं विपरीत सा हो गया हूँ। विवेकहीनता, सरोगता, निर्धनता, पागलपन, शक्ति रहितपना आदि कर्मके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए हैं। जो मनुष्य सदा ऐसा विचार किया करता है, वह अवश्य विशुद्धताजन्य सुखका अनुभव करता है ।।६।।

राज्ञो ज्ञातेश्च दस्योर्ज्वलनजलरिपोरीतितो मृत्युरोगात्
दोषोद्भूतेरकीर्तेः सततमति भयं रैनृगोमंदिरस्य ।
चिंता तन्नाशशोको भवति च गृहिणां तेन तेषां विशुद्ध
चिद्रूपध्यानरत्न श्रुतिजलधिभव प्रायशो दुर्लभस्यात् ।।७।।

अर्थ—संसारी जीवोको राजा, जाति, चोर, अग्नि, जल, वैरी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आदि ईति, मृत्यु, रोग, दोष और अकीर्तिसे सदा भय बना रहता है। धन, कुटुम्बी, मनुष्य, गाय और महलकी चिंताये लगी रहती हैं एव उनके नाशसे शोक होता रहता है, इसलिये उन्हे शास्त्ररूपी अगाध समुद्रसे उत्पन्न, शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी प्राप्ति होना नितात दुर्लभ है।

भावार्थः—भयभीत मनुष्य अगाध समुद्रसे जिसप्रकार सहसा रत्न प्राप्त नही कर सकता, उसीप्रकार जो मनुष्य राजा, जाति, चोर, अग्नि, जल आदिसे भय करनेवाला है, धन, धान्य, गो, महल आदिकी चिंता और उसके नाशसे शोकाकुल रहता है वह कदापि शुद्धचिद्रूपका ध्यान नही कर सकता ।।७।।

पठने गमने संगे चेतनेऽचेतनेऽपि च ।
किंचित्कार्यकृतौ पुंसा चिंता हेया विशुद्धये ।।८।।

अर्थः— जो महानुभाव विशुद्धताका आकांक्षी है, अपनी आत्माको निष्कलंक बनाना चाहता है उसे चाहिये कि वह पढने, गमन करने, चेतन अचेतन दोनो प्रकारके परिग्रह धारने और किसी अन्य कार्यके करनेमे किसी प्रकारकी चिन्ता न करे अर्थात् अन्य पदार्थोंकी चिन्ता करनेसे आत्मा विशुद्ध नही बन सकती ।।८।।

शुद्धचिद्रूपकस्यांशो द्वादशांगश्रुतार्णवः ।
शुद्धचिद्रूपके लब्धे तेन किं मे प्रयोजनं ।।९।।

अर्थः—आचाराग सूत्रकृताग आदि द्वादशांगरूपी समुद्र शुद्धचिद्रूपका अंश है, इसलिये यदि शुद्धचिद्रूप प्राप्त हो गया है तो मुझे द्वादशागसे क्या प्रयोजन ! वह तो प्राप्त हो ही गया ।

भावार्थः—द्वादशांगकी प्राप्ति संसारमें अतिशय दुर्लभ है, परन्तु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होते ही उसकी प्राप्ति आपसे आप हो जाती है; क्योकि वह शुद्धचिद्रूपका अश है, इसलिये कल्याणके आकांक्षी जीवोको चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपकी ही प्राप्ति करे। द्वादशाग आदि पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये शुद्ध-चिद्रूपके लाभका ही प्रयत्न करे ।।९।।

शुद्धचिद्रूपके लब्धे कर्त्तव्यं किंचिदस्ति न ।
अन्यकार्यकृतौ चिंता वृथा मे मोहसंभवा ।।१०।।

अर्थः—मुझे संसारमे शुद्धचिद्रूपका लाभ हो गया है, इसलिये कोई मुझे करनेके लिये अवशिष्ट व रहा, सब कर

चुका तथा शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति ही जाने पर अन्य कर्मोंके लिये मुझे चिन्ता करना भी व्यर्थ है; क्योंकि यह मोहसे होती है—अर्थात् मोहसे उत्पन्न हुई चिन्तासे मेरा कदापि कल्याण नही हो सकता ।।१०।।

वपुषां कर्मणां कर्म हेतूनां चिंतनं यदा ।
तदा क्लेशो विशुद्धि स्याच्छुद्धचिद्रूपचिंतनं ।।११।।

अर्थः—शरीर, कर्म और कर्मके कारणोंका चितवन करना क्लेश है अर्थात् उनके चिंतवनसे आत्मामे क्लेश उत्पन्न होता है और शुद्धचिद्रूपके चिंतवनसे विशुद्धि होती है ।।११।।

गृही यातिर्न यो वेत्ति शुद्धचिद्रूप लक्षणं ।
तस्य पंचनमस्कारप्रमुखस्मरणं वरं ।।१२।।

अर्थः—जो गृहस्थ या मुनि शुद्धचिद्रूपका स्वरूप नही जानता उसके लिये पंचपरमेष्ठीके मन्त्रोका स्मरण करना ही कार्यकारी है उसीसे उसका कल्याण हो सकता है ।।१२।।

संक्लेशस्य विशुद्धेश्च फलं ज्ञात्वा परीक्षणं ।
तं त्यजेत्तां भजत्यंगी योऽत्रामुत्र सुखी स हि ।।१३।।

अर्थः—जो पुरुष संक्लेश और विशुद्धिके फलको परीक्षा पूर्वक जानकर सक्लेशको छोड़ता है और विशुद्धिको सेवन करता है उस मनुष्यको इस लोक, पर–लोक दोनो लोकों में सुख मिलता है ।।१३।।

संक्लेशे कर्मणां बंधोऽशुभानां दुःखदायिनां ।
विशुद्धौ मोचनं तेषां बंधो वा शुभकर्मणां ।।१४।।

अर्थः—क्योंकि संक्लेशके होनेसे अत्यन्त दुःखदायी अशुभ कर्मोंका आत्माके साथ सम्बन्ध होता है और विशुद्धता की प्राप्तिसे इन अशुभ कर्मोंका सम्बन्ध छूटता है तथा शुभ-कर्मोंका सम्बन्ध होता है।

भावार्थः—जब तक यह आत्मा विशुद्ध नही संक्लेशमय रहता है, तब तक इसके साथ नाना प्रकारके अशुभ कर्मोंका बन्ध होता रहता है और उससे इसे अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं; परन्तु जिस समय यह आत्मा विशुद्धताका अनुभव करने लग जाता है उस समय इससे अशुभ कर्मोंका संबंध छूट जाता है और सुखदायक शुभकर्मोंका सम्बन्ध होने लगता है, इसलिये दुःखदायक संक्लेशको छोड़कर सुख-दायक चिद्रूपकी शुद्धिका ही आश्रय करना योग्य है ॥१४॥

विशुद्धेः शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं मुख्यकारणं।
संक्लेशस्तद्विघाताय जिनेनेदं निरूपितं ॥१५॥

अर्थः—यह विशुद्धि शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें मुख्य कारण है—इसीसे शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी प्राप्ति होती है और संक्लेश शुद्धचिद्रूपके ध्यानका विघातक है, जब तक आत्मामें किसी प्रकारका संक्लेश रहता है तब तक शुद्धचिद्रूपका ध्यान कदापि नही हो सकता ॥१५॥

अमृतं च विशुद्धिः स्यान्नान्यल्लोकप्रभाषितं।
अत्यंतसेवने कष्टमन्यस्यास्य परं सुखं ॥१६॥

अर्थः—संसारमें लोग अमृत जिसको कहकर पुकारते हैं—अथवा जिस किसी पदार्थको लोग अमृत बतलाते हैं, वह पदार्थ वास्तवमें अमृत नही है। वास्तविक अमृत तो विशुद्धि

ही है; क्योंकि लोककथित अमृतके अधिक सेवन करनेसे तो कष्ट भोगना पड़ता है और विशुद्धिरूपी अमृतके अधिक सेवन करने पर भी अनुपम सुख ही मिलता है, किसी प्रकारका भी कष्ट नही भोगना पड़ता, इसलिये जिससे सब अवस्थाओ मे सुख मिले वही अमृत सच्चा है ।।१६।।

विशुद्धिसेवनासक्ता वसति गिरिगह्वरे ।
विमुच्यानुपमं राज्यं स्वसुखानि धनानि च ।।१७।।

अर्थ:—जो मनुष्य विशुद्धताके भक्त है, अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाना चाहते हैं, वे उसकी सिद्धिके लिये पर्वतकी गुफाओमे निवास करते हैं तथा अनुपम राज्य, इन्द्रियसुख और संपत्तिका सर्वथा त्याग कर देते हैं–राज्य आदिकी ओर जरा भी चित्त को भटकने नही देते ।।१७।।

विशुद्धेश्चित्स्वरूपे स्यात् स्थितिस्तस्या विशुद्धता ।
तयोरन्योन्यहेतुत्वमनुभूय प्रतीयतां ।।१८।।

अर्थः—विशुद्धि होनेसे शुद्धचिद्रूपमे स्थिति होती है और विशुद्धचिद्रूपमे निश्चलरूपसे स्थिति करनेसे विशुद्धि होती है, इसलिये इन दोनोको आपसमें एक दूसरेका कारण जानकर इनका वास्तविक स्वरूप जान लेना चाहिये ।

भावार्थः—जब तक विशुद्धता नही होती तब तक शुद्ध चिद्रूपमे स्थिति नही हो सकती; और जब तक शुद्धचिद्रूप मे स्थिति नही होती तब तक विशुद्धता नही आ सकती, इस-लिये विद्वानोको चाहिये कि इनमे एक दूसरेको आपस मे कारण जानकर इन दोनोके स्वरूपको जाननेके लिये पूर्ण उद्यम करे ।।१८।।

विशुद्धिः परमो धर्मः पुंसि सैव सुखाकरः ।
परमाचरणं सैव मुक्तेः पंथाश्च सैव हि ॥१९॥
तस्मात् सैव विधातव्या प्रयत्नेन मनीषिणा ।
प्रतिक्षणं मुनीशेन शुद्धचिद्रूप चिंतनात् ॥२०॥

अर्थः—यह विशुद्धि ही संसारमें परम धर्म है यही जीवोको सुखका देने वाला, उत्तम चारित्र और मोक्षका मार्ग है इसलिये जो मुनिगण विद्वान है–जड और चेतन के स्वरूप के वास्तविक जानकार है उन्हे चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपके चिंतवनसे प्रयत्नपूर्वक विशुद्धिकी प्राप्ति करे ।

भावार्थः—बिना शुद्धचिद्रूपके चिंतवनके विशुद्धिकी प्राप्ति होना असभव है, इसलिये विद्वान मुनिगणोको इसकी प्राप्तिके लिये शुद्धचिद्रूपका चिंतवन करना चाहिये, क्योकि यह विशुद्धि ही ससारमे परम धर्म, सुखके देने वाली, उत्तम चारित्र और मोक्षका मार्ग है ॥१९–२०॥

यावद्बाह्यांतरान् संगान् न मुंचंति मुनीश्वराः ।
तावदायाति नो तेषां चित्स्वरूपे विशुद्धता ॥२१॥

अर्थः—जब तक मुनिगण बाह्य अभ्यतर दोनों प्रकार के परिग्रहका सर्वथा नाश नही कर देते तब तक उनके चिद्-रूप में विशुद्धपना नही आ सकता ।

भावार्थः—स्त्री पुत्र आदिको अपनाना बाह्य परिग्रह है और रागद्वेष आदिको अपनाना अभ्यतर परिग्रह है । जब तक इन दोनों प्रकारके परिग्रहोमें ममता लगी रहती है, तब तक चिद्रूप विशुद्ध नहीं हो सकता; परन्तु ज्यो ज्यो बाह्य

अभ्यंतर दोनो प्रकारके परिग्रहोसे ममता छूटती जाती है त्यो त्यो चिद्‌रूप भी विशुद्ध होता चला जाता है, इसलिये जो मुनिगण विशुद्धचिद्‌रूपके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे सर्वथा ममता छोड दे।

विशुद्धिनावमेवात्र श्रयंतु भवसागरे।
मज्जंतो निखिला भव्या बहुना भाषितेन किं ॥२२॥

अर्थः—ग्रन्थकार कहते है कि—इस विषयमे विशेष कहनेसे क्या प्रयोजन ? प्रिय भव्यो ! अनादि कालसे आप लोग इस ससाररूपी सागरमे गोता खा रहे है, अब आप इस विशुद्धिरूपी नौकाका आश्रय लेकर ससारसे पार होनेके लिये पूर्ण उद्यम कीजिये ॥२२॥

आदेशोऽयं सद्‌गुरूणां रहस्यं सिद्धांतानामेतदेवाखिलानां।
कर्तव्यानां मुख्यकर्तव्यमेतत्कार्या यत्स्वे चित्स्वरूपे विशुद्धिः॥२३॥

इति मुमुक्षुभट्टारक श्री ज्ञानभूषण विरचितायां तत्वज्ञान तरंगिण्यां शुद्धचिद्रूप लब्ध्यै विशुद्ध्यानयनविधि प्रतिपादक-स्त्रयोदशोऽध्यायः ॥२३॥

अर्थः—अपने चित्स्वरूपमे विशुद्धि प्राप्त करना यही उत्तम गुरुओका उपदेश है, समस्त सिद्धातोका रहस्य और समस्त कर्तव्योंमे मुख्य कर्तव्य है।

भावार्थ—चिद्‌रूपको बिना विशुद्ध किये किसी प्रकार का कल्याण नही हो सकता, इसलिये यही उत्तम गुरुओका

उपदेश समस्त सिद्धान्तोका रहस्य और कर्तव्योमें मुख्य कर्तव्य है कि चिद्रूपमे विशुद्धि प्राप्त करो ॥२३॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा विरचित तत्वज्ञानं तरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये विशुद्धिकी प्राप्तिका उपाय प्रतिपादन करनेवाला तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१३॥



शुद्धचिद्रूपका ध्यान करता हुआ भी यह जीव अन्य कार्य करता रहता है। इस बात को बतलाने वाला

चौदहवाँ अध्याय

नीहाराहारपानं खमदनविजयं स्वापमौनासनं च
यानं शीलं तपांसि व्रतमपि कलयन्नागमं संयमं च।
दानं गानं जिनानां नुतिनतिजपनं मंदिरं चाभिषेकं
यात्रार्चे मूर्तिमेव कलयति सुमतिः शुद्धचिद्रूपकोऽहं ॥१॥

अर्थः—बुद्धिमान पुरुष जिसप्रकार नीहार (मलमूत्र त्याग करना) खाना, पीना, इन्द्रिय और कामका विजय, सोना, मौन, आसन, गमन, शील, तप, व्रत, आगम, संयम, दान, गान, भगवान की स्तुति, प्रणाम, जप, मंदिर, अभिषेक, तीर्थयात्रा, पूजन और प्रतिमाओके निर्माण आदि करनेको आवश्यक कार्य समझते है, उसीप्रकार मैं शुद्धचिद्रूप स्वरूप हूँ ऐसा समझनेको भी आवश्यक कार्य मानते हैं।

भावार्थः—जिसप्रकार बुद्धिमान पुरुषोको मल मूत्र त्याग, खाना, पीना, इन्द्रिय और कामका विजय, मौन, आसन, गमन, शील, तप, व्रत आदि कार्य करने पडते हैं, बिना इन्हें किये उनका काम चल नही सकता, उसी प्रकार "मैं शुद्धचिद्रूप हूँ" इसप्रकारके बिना ध्यानके भी उनका कार्य नही चल सकता, इसलिये उन्हें शुद्धचिद्रूपका भी अवश्य स्मरण करना चाहिये ॥१॥

कुर्वन् यात्रार्चनाद्यं खजयजपतपोऽध्यापनं साधु सेवां
दानौघान्योपकारं यमनियमधरं स्वापशीलं दधानः।

उद्भीभावं च मौनं व्रतसमितिततिं पालयन् संयमौघं ।
चिद्रूपध्यानरक्तो भवति च शिवभाग् नापरः स्वर्गभाक् च ।।२।।

अर्थः—जो मनुष्य तीर्थयात्रा, भगवानकी पूजन, इंद्रियों का जय, जप, तप, अध्यापन (पढाना), साधुओंकी सेवा, दान, अन्यका उपकार, यम, नियम, शील, भयका अभाव, मौन, व्रत और समितिका पालन एवं सयमका आचरण करता हुआ शुद्धचिद्रूपके ध्यानमे रत है, उसे तो मोक्षकी प्राप्ति होती है और उससे अन्य अर्थात् जो शुद्धचिद्रूपका ध्यान न कर तीर्थयात्रा आदिका ही करनेवाला है, उसे नियमसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है ।

भावार्थः—तीर्थयात्रा, भगवानकी पूजन, इन्द्रियोंका जय, जप, तप, अध्यापन, साधुओंकी सेवा आदि कार्य सर्वदा शुभ है। यदि इनके साथ शुद्धचिद्रूपके ध्यानमें अनुराग किया जाय तो मोक्षकी प्राप्ति होती है और शुद्धचिद्रूपका ध्यान न कर केवल तीर्थयात्रा आदि का ही आचरण किया जाय तब स्वर्ग सुख मिलता है, इसलिये उत्तम पुरुषोको चाहिये कि वे मोक्ष सुखकी प्राप्तिके लिये शुद्धचिद्रूपके ध्यानके साथ तीर्थ यात्रा आदि का अवश्य आचरण करे । यदि शुद्धचिद्रूप का ध्यान न भी कर सके तो तीर्थयात्रा, भगवानकी पूजन आदि कार्य तो अवश्य करने चाहिये; क्योकि इनके आचरण करनेसे भी स्वर्गसुख की प्राप्ति होती है ।।२।।

चित्तं निधाय चिद्रूपे कुर्याद् वागंगचेष्टितं ।
सुधीर्निरंतरं कुंभे यथा पानीयहारिणी ।।३।।

अर्थः—जो मनुष्य विद्वान है–संसारके संतापसे रहित होना चाहते है उन्हें चाहिये कि वे घडेमें पनिहारीके समान शुद्धचिद्रूपमे अपना चित्त स्थिर कर वचन और शरीरकी चेष्टा करे।

भावार्थः—जिसप्रकार पनिहारी जलमे भरे हुये घडेमे अपना चित्त स्थिर करे वचन और शरीरकी चेष्टा करती है उसीप्रकार जो मनुष्य संसारके सतापसे खिन्न हैं और उससे रहित होना चाहते है उन्हें भी चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपमे अपना मन स्थिर कर उसकी प्राप्तिके लिये वचन और शरीर का व्यापार करे, क्योंकि शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिसे समस्त संताप का नाश होता है और शातिमय सुख मिलता है ॥३॥

वैराग्यं त्रिविधं प्राप्य संगं हित्वा द्विधा ततः।
तत्त्वविद्गुरुमाश्रित्य ततः स्वीकृत्य सयमं ॥४॥
अधीत्य सर्वशास्त्राणि निर्जने निरुपद्रवे ।
स्थाने स्थित्वा विमुच्यान्यचितां धृत्वा शुभासनं ॥५॥
पदस्थादिकमभ्यस्य कृत्वा साम्यावलंबनं ।
मानसं निश्चलीकृत्य स्वं चिद्रूपं स्मरंति ये ॥६॥त्रिकलं।
पापानि प्रलयं यांति तेषामभ्युदयप्रदः ।
धर्मो विवर्द्धते मुक्तिप्रदो धर्मश्च जायते ॥७॥

अर्थः—जो महानुभाव मनसे, वचनसे और कायसे वैराग्य को प्राप्त होकर, बाह्य अभ्यतर दोनो प्रकारके परिग्रहो को छोडकर तत्त्ववेत्ता गुरुका आश्रय और सयमको स्वीकार कर, समस्त शास्त्रोके अध्ययन पूर्वक निर्जन निरुपद्रव स्थानमें रहते हैं और वहा समस्त प्रकारकी चिंताओका त्याग, शुभ

आसनका धारण, पदस्थ पिंडस्थ आदि ध्यानोंका अवलंबन, समताका आश्रय और मनका निश्चलपना धारणकर शुद्धचिद्रूपका स्मरण ध्यान करते हैं उनके समस्त पाप जड़से नष्ट हो जाते हैं, नानाप्रकारके कल्याणोके करनेवाले धर्मकी वृद्धि होती है और उससे उन्हे मोक्ष मिलता है।

भावार्थः—चिद्रूपका स्मरण करना ससारमें अतिशय कठिन है, क्योंकि जो मनुष्य मन, वचन और कायसे वैरागी स्त्री पुत्र आदि मे ममत्व न रखनेवाला, बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके परिग्रहोका त्यागी, तत्त्वोके जानकार गुरुओंका उपासक, परम सयमी, समस्त शास्त्रोका वेत्ता, निर्जन और निरुपद्रव वनोमे निवास करनेवाला, सब प्रकारकी चिन्ताओं से रहित, शुभ आसन, पदस्थ आदि ध्यान और समताका अवलंबी होगा एव जिसका मन बाह्य पदार्थोंमें चचल न होकर निश्चल होगा वही शुद्धचिद्रूपका स्मरण कर सकेगा तथा ऐसे शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेवाले पुरुषके ही समस्त पापोंका नाश, सर्वोत्तम धर्मकी वृद्धि और मोक्षका लाभ होगा, इसलिये सुखके अभिलाषी जीवोको चाहिये कि वे उपर्युक्त बातोंके साधन मिलाकर शुद्धचिद्रूपके स्मरणका अवश्य प्रयत्न करे ॥४–७॥

वार्वातारन्यमृतोषवज्रगरुडज्ञानौषधेभारिणा
सूर्येण प्रियभाषितेन च यथा यांति क्षणेन क्षयं।
अग्न्यब्दागविष मलागफणिनोऽज्ञानं गदे भव्रजाः
रात्रिर्वैरमिहावनावघचयश्चिद्रूपसचिंतया ॥८॥

अर्थः—जिसप्रकार जल अग्निका क्षय करता है, पवन मेघका, अग्नि वृक्षका, अमृत विषका, खार मैलका, वज्र पर्वतका, गरुड सर्पका, ज्ञान अज्ञानका, औषध रोगका, सिंह हाथियोका, सूर्य रात्रिका और प्रिय भाषण वैरका नाश करता है, उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके चिंतवन करनेसे समस्त पापोंका नाश होता है।

भावार्थ—जिन जिनका आपसमे विरोध होता है उनमे बलवान विरोधी दूसरे निर्बल विरोधीका अवश्य नाश करता है। जल अग्नि, पवन मेघ, अग्नि वृक्ष, अमृत विष, खार मैल वज्र पर्वत, गरुड सर्प, ज्ञान अज्ञान, औषध रोग, सिंह हाथी, सूर्य रात्रि और प्रिय भाषण वैरका आपसमे विरोध है। बलवान जल आदि अग्निको नष्ट कर देते है, उसीप्रकार शुद्धचिद्रूप और पापोका आपसमे विरोध है, इसलिये शुद्धचिद्रूपके सामने पाप जरा भी टिक नही सकते ॥८॥

वर्द्धते च यथा मेघात्पूर्वं जाता महीरुहाः ।
तथा चिद्रूपसद्ध्यानात् धर्मश्चाभ्युदयप्रदः ॥९॥

अर्थः—जिसप्रकार पहिलेसे उगे हुए वृक्ष, मेघके जलसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं, उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे धर्म भी वृद्धिको प्राप्त होता है और नाना प्रकारके कल्याणोको प्रदान करता है।

भावार्थः—धर्म आत्माका स्वभाव है। सिवाय आत्माके वह कभी किसी कालमे दूसरे पदार्थोंमे रह नही सकता, किन्तु कर्मोंके प्रबल पर्दाके पड़ जानेसे उसका स्वरूप कुछ ढक जाता है–धर्माचरण करनेमें मनुष्योके परिणाम नही लगते;

परन्तु जिसप्रकार जमीनमे पहिलेसे ही उगे हुये वृक्ष मेघकी सहायतासे वृद्धिको प्राप्त हो जाते है और नाना प्रकारके फलोको प्रदान करते है, उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके ध्यानके द्वारा कर्मोंके नष्ट हो जानेसे धर्म भी वृद्धिको प्राप्त हो जाता है और उससे जीवोको अनेक प्रकारके कल्याणोकी प्राप्ति होती है ॥६॥

यथा बलाहकवृष्टेर्जायंते हरितांकुराः ।
तथा मुक्तिप्रदो धर्मः शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥१०॥

अर्थः—जिसप्रकार मेघसे भूमिके अन्दर हरे हरे अंकुर उत्पन्न होते है, उसीप्रकार शुद्धचिद्रूपके चिंतवन करनेसे मुक्ति प्रदान करनेवाला धर्म भी उत्पन्न होता है—अर्थात् शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे अनुपम धर्मकी प्राप्ति होती है और उसकी सहायता से जीव मोक्ष सुखका अनुभव करते हैं ॥१०॥

व्रतानि शास्त्राणि तपांसि निर्जने निवासमतर्बहिः संग मोचनं ।
मौन क्षमातापनयोग धारणं चिच्चिंतयामा कलयन् शिव श्रयेत्।११।

अर्थः—जो विद्वान पुरुष शुद्धचिद्रूपके चिंतवनके साथ व्रतोका आचरण करता है, शास्त्रोका स्वाध्याय, तपका आराधन, निर्जनवनमें निवास, बाह्य अभ्यतर परिग्रहका त्याग, मौन, क्षमा और आतापन योग धारण करता है, उसे ही मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थः—चाहे कितना भी व्रतोका आचरण, शास्त्रो का स्वाध्याय, तपका आराधन, निर्जन वनमे निवास, बाह्य अभ्यंतर दोनो प्रकारके परिग्रहका त्याग, मौन, क्षमा और

आतापन योगको धारण करो, जब तक उनके साथ साथ शुद्धचिद्रूपका चिंतवन न किया जायगा तब तक उनसे कभी भी मोक्ष सुख प्राप्त नही होगा, इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि वे व्रत आदिके आचरणके साथ अवश्य शुद्धचिद्रूप का चिंतवन करें ।।११।।

शुद्धचिद्रूपके रक्तः शरीरादिपराङ्मुख. ।
राज्य कुर्वन्न बधेत कर्मणा भरतो यथा ।।१२।।

अर्थः—जो पुरुष शरीर, स्त्री, पुत्र आदिसे ममत्व छोड़ कर शुद्धचिद्रूपमे अनुराग करनेवाला है, वह राज्य करता हुआ भी कर्मोंसे नही बँधता जैसे कि चक्रवर्ती राजा भरत ।

भावार्थः—भगवान ऋषभदेवके पुत्र चक्रवर्ती राजा भरत छै खण्ड पृथ्वीके शासक थे, बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके सेवक, छयानवे हजार आज्ञाकारिणी रानियाँ और भी हाथी घोडा आदि लाखो करोड़ो थे, तथापि उनका सिवाय शुद्धचिद्रूपके जरा भी किसीमे अनुराग नही था। वे सदा सबसे पराङ्मुख रहते थे, इसलिये जिस समय वे परिग्रहसे सर्वथा ममत्वरहित हो तपोवन गये उस समय कपडे खोलते ही उन्हें केवलज्ञान हो गया और समस्त कर्मोका नाशकर वे मोक्ष शिला पर जा विराजे, उसीप्रकार भरत चक्रवर्तीके समान जो मनुष्य शरीर आदिसे ममत्व न कर शुद्धचिद्रूपमे प्रेम करता है, वह राज्यका भोग करता हुआ भी कर्मोंसे नही बँधता और मोक्ष सुखका अनुभव करता है ।।१२।।

स्मरन्स्व शुद्धचिद्रूपं कुर्यात्कार्यशतान्यपि ।
तथापि न हि बध्येत धीमान शुभ कर्मणा ।।१३।।

अर्थः—आत्मिक शुद्धचिद्रूपको स्मरण करता हुआ बुद्धिमान पुरुष यदि सैकडों भी अन्य अन्य कार्य करे तथापि उसकी आत्माके साथ किसी प्रकारके अशुभ कर्मका बध नही होता ।

भावार्थः—बन्धके होनेमे कारण ममत्व है । सैकड़ों कार्य करने पर भी यदि परपदार्थोंमें किसी प्रकारकी ममता नही हो तो कदापि-बध नही हो सकता ।।१३।।

रोगेण पीडितो देही यष्टिमुष्टयादिताडितः ।
बद्धो रज्वादिभिर्दु:खी न चिद्रूपं निजं स्मरन् ।।१४।।

अर्थः—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपका स्मरण करने वाला है चाहे वह कैसे भी रोगसे पीडित क्यो न हो, लाठी मुक्को से, ताडित और रस्सी आदिसे भी क्यो न बधा हुआ हो उसे जरा भी क्लेश नही होता । अर्थात् वह यह जानकर कि "ये सारी व्याधियां शरीरमे होती हैं मेरे शुद्धचिद्रूपमें नही और शरीर मुझसे सर्वथा भिन्न है" रचमात्र भी दुःखका अनुभव नही करता ।।१४।।

बुभुक्षया च शीतेन वातेन च पिपासया ।
आतपेन भवेन्नार्तो निजचिद्रूपचिंतनात् ।।१५।।

अर्थः—आत्मिक शुद्धचिद्रूपके चिंतवनसे मनुष्यको भूख, ठंड, पवन, प्यास और आताप की भी बाधा नही होती । भूख आदिकी बाधा होने पर भी वह आनन्द ही मनाता है ।।१५।।

हर्षो न जायते स्तुत्या विषादो न स्वनिंदया ।
स्वकीयं शुद्धचिद्रूपमन्वहं स्मरतोऽगिनः ।।१६।।

अर्थः—जो प्रतिदिन शुद्धचिद्रूपका स्मरण ध्यान करता है उसे दूसरे मनुष्योसे अपनी स्तुति सुनकर हर्ष नही होता और निन्दा सुनकर किसी प्रकार का विषाद नही होता–निन्दा स्तुति दोनो दशामे वह मध्यस्थरूपसे रहता है ।।१६।।

रागद्वेषौ न जायेते परद्रव्ये गतागते ।
शुभाशुभेऽगिनः शुद्धचिद्रूपासक्तचेतसः ।।१७।।

अर्थः—जिस मनुष्यका चित्त शुद्धचिद्रूपमे आसक्त है वह स्त्री पुत्र आदि परद्रव्यके चले जाने पर द्वेष नही करता और उनकी प्राप्तिमे अनुरक्त नही होता तथा अच्छी बुरी बातोके प्राप्त हो जाने पर भी उसे किसी प्रकारका रागद्वेष नही होता ।।१७।।

न संपदि प्रमोदः स्यात् शोको नापदि धीमतां ।
अहो स्वित्सर्वदात्मीय शुद्धचिद्रूपचेतसां ।।१८।।

अर्थ —सदा शुद्धचिद्रूपमे मन लगानेवाले बुद्धिमान पुरुषोको सपत्तिके प्राप्त हो जाने पर हर्ष और विपत्तिके आने पर विषाद नही होता–वे सपत्ति और विपत्तिको समान रूपसे मानते हैं ।।१८।।

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं ये न मुंचंति सर्वदा ।
गच्छंतोऽप्यन्यलोकं ते सम्यगभ्यासतो न हि ।।१९।।
तथा कुरु सदाभ्यासं शुद्धचिद्रूपचिंतने ।
संक्लेशे मरणे चापि तद्विनाशं यथैति न ।।२०।।

अर्थः—जो महानुभाव आत्मिक शुद्धचिद्रूपका कभी त्याग नही करते वे यदि अन्य भवमे भी चले जाय तो भी

उनके शुद्धचिद्रूपका अभ्यास नही छूटता । पहिले भवमें जैसी उनकी शुद्धरूपमे लीनता रहती है वैसी ही बनी रहती है, इसलिये हे आत्मन् ! तू शुद्धचिद्रूपके ध्यानका इस रूपसे सदा अभ्यास कर, जिससे कि भयंकर दु.ख और मरण के प्राप्त हो जाने पर भी उसका विनाश न हो—वह ज्यों का त्यो बना रहे ।।१९–२०।।

वदन्नन्यैर्हसन् गच्छन् पाठयन्नागमं पठन् ।
आसनं शयन कुर्वन् शोचनं रोदन भयं ।।२१।।

भोजनं क्रोधलोभादि कुर्वन् कर्मवशात् सुधीः ।
न मुंचति क्षणार्द्धं स शुद्धचिद्रूपचिंतनं ।।२२।।

इति मुमुक्षुभट्टारक श्रीज्ञानभूषण विरचितायां तत्त्वज्ञान तरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपं स्मरन्नन्यकार्यं करोतीति प्रतिपादकश्चतुर्दशोऽध्यायः१४

अर्थः—जो पुरुष बुद्धिमान हैं—यथार्थमे शुद्धचिद्रूपके स्वरूपके जानकार हैं वे कर्मोंके फंदमें फँसकर बोलते, हँसते, चलते, आगमको पढ़ाते, पढते, बैठते, सोते, शोक करते, रोते, डरते, खाते, पीते और क्रोध लोभ आदिको भी करते हुये क्षण-भरके लिये भी शुद्धचिद्रूपके स्वरूपसे विचलित नही होते—प्रतिक्षण वे शुद्धचिद्रूपका ही चिंतवन करते रहते हैं ।।२१-२२।।

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा निर्मित तत्वज्ञान तरंगिणीमें "शुद्धचिद्रूपका ध्यान करता हुआ भी यह जीव अन्य कार्य करता रहता है" इस बातको बतलाने वाला चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ ।।१४।।



शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये परद्रव्यों के त्याग का
प्रतिपादन करने वाला

पन्द्रहवां अध्याय

गृहं राज्यं मित्रं जनक जननीं भ्रातृ पुत्रं कलत्रं
सुवर्णं रत्नं वा पुरजनपदं वाहन भूषणं वै ।
खसौख्यं क्रोधाद्यं वसनमशनं चित्तवाक्कायकर्म-
त्रिधा मुंचेत्प्राज्ञः शुभमपि निज शुद्धचिद्रूप लब्ध्यै ।।१।।

अर्थ—बुद्धिमान मनुष्योको शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति करने के लिये शुभ होने पर भी अपने घर, राज्य, मित्र, पिता, माता, भाई, पुत्र, स्त्री, स्वर्ण, रत्न, पुर, जनपद, सवारी, भूषण, इन्द्रियजन्य सुख, क्रोध, वस्त्र और भोजन आदिको मन, वचन और कायसे सर्वथा त्याग देने चाहिये।

भावार्थः—यद्यपि संसारमे घर, राज्य, मित्र, पिता, माता, भाई, पुत्र, स्त्री, स्वर्ण, रत्न, पुर, नगर, सवारी, इन्द्रियजन्य सुख आदिसे भी काम चलता है और शुभ भी है; परन्तु शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमे बाधक हैं। जब तक इनकी ओर ध्यान रहता है तब तक कदापि शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नही हो सकती, इसलिये विद्वानो को चाहिये कि वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिये घर राज्य आदिका सर्वथा त्याग कर दें ।।१।।

सुतादौ भार्यादौ वपुषि सदने पुस्तक धने
पुरादौ मंत्रादौ यशसि पठने राज्यकदने ।

गवादौ भक्तादौ सुहृदि दिवि वाहे खविषये
कुधर्मे वांछा स्यात् सुरतरुमुखे मोहवशतः ॥२॥

अर्थः—इस दीन जीवकी मोहके वशसे पुत्र, पुत्री, स्त्री, माता, शरीर, घर, पुस्तक, धन, पुर, नगर, मंत्र, कीर्ति, ग्रन्थोका अभ्यास, राज्य, युद्ध, गौ, हाथी, भोजन, मित्र, स्वर्ग, सवारी, इन्द्रियोके विषय, कुधर्म और कल्पवृक्ष आदिमें वांछा होती है।

भावार्थः—जब तक इस जीवके मोहका उदय रहता है तब तक यह पुत्र, पुत्री, स्त्री, शरीर आदि परपदार्थोको अपनाता रहता है और उनके फदेमें फँसकर आत्मिक शुद्ध-चिद्रूपको सर्वथा भुला देता है; परन्तु मोहके नाश होते ही इसे अपने परायेका ज्ञान हो जाता है, इसलिये उस समय पुत्र धन आदि पदार्थो की ओर यह झाँककर भी नही देखता ॥२॥

किं पर्यायैर्विभावैस्तव हि चिदचित्तां व्यजनार्थाभिधानैः
रागद्वेषाप्तिबीजैर्जगति परिचितैः कारणैः संसृतेश्च ।
मत्वेव त्वं चिदात्मन् परिहर सततं चिंतनं मंक्षु तेषां
शुद्धे द्रव्ये चिति स्वे स्थितिमचल तयांतर्दृशा संविधेहि ॥३॥

अर्थः—हे चिदात्मन्! ससारमे चेतन और अचेतनकी जो अर्थ और व्यंजन पर्यायें मालूम पड़ रही हैं वे सब स्वभाव नही विभाव हैं, निंदित है, रागद्वेष आदिकी और संसारकी कारण हैं, ऐसा भले प्रकार निश्चय कर तू इनका विचार करना छोड़ दे और आत्मिक शुद्धचिद्रूपको अपनो अन्तर्दृष्टि से भले प्रकार पहिचान कर उसीमें निश्चलरूपसे स्थिति कर।

भावार्थः—यदि कोई अपना है तो शुद्धचिद्रूप ही है शुद्ध चिद्रूपसे भिन्न कोई पदार्थ अपना नही, राग द्वेष, मतिज्ञान और नरनारक आदि पर्यायोको अपनी मानना भूल है; क्योकि ये विभाव पर्याय हैं स्वभाव नही,महानिंदित हैं। इनको अपनानेसे रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है और संसारमे भ्रमण करना पडता है, इसलिये जो जीव निराकुलता मय सुखके अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे शरीर आदि पर्यायोका चिंतवन करना छोड़दें और आत्मिक शुद्धचिद्रूपमे प्रेम करें।। ३।।

स्वर्णैरत्नैर्गृहैः स्त्रीसुतरथशिविकाश्वेभभृत्यैरसंख्यै-
र्भूषावस्त्रैः स्रगाद्यैर्जनपदनगरैश्चामरैः सिंहपीठैः।
छत्रैरस्त्रैर्विचित्रैर्वरतरशयनैर्भजिनैर्भोजनैश्च
लब्धैः पांडित्यमुख्यैर्न भवति पुरुषो व्याकुलस्तीव्रमोहात्।।४।।

अर्थः—यह पुरुष मोहकी तीव्रतासे आकुलताके कारण स्वरूप भी स्वर्ण, रत्न, घर, स्त्री, पुत्र, रथ, पालकी, घोड़े, हाथी, भृत्य, भूषण, वस्त्र, माला, देश, नगर, चमर, सिंहासन, छत्र, अस्त्र, शयन, भोजन और विद्वत्ता आदिसे व्याकुल नही होता।

भावार्थः—जहा चित्तको आकुलता नही रहती, वही शाति मिलती है। स्वर्ण, रत्न, घर, स्त्री आदि पदार्थोंकी प्राप्ति अप्राप्तिमे चित्त सदा व्याकुल बना रहता है, इसलिए उनको अपनानेसे आत्मा निराकुल नही हो सकता; परन्तु यह जीव मोहकी तीव्रतासे ऐसा मूढ हो रहा है कि स्वर्ण, स्त्री, पुत्र आदि पदार्थोंके अपनानेसे अनंत कष्ट भोगने पर भी

यह जरा भी कष्ट नही मानता, उनसे रत्तीभर भी इसका चित्त व्याकुल नही होता ॥४॥

रैगोभार्याः सुताश्वा गृहवसनरथा क्षेत्रदासीभशिष्याः
कपूरामूषणाद्यापणवनशिबिका बंधुमित्रायुधाद्याः ।
मंचा वाप्यादि भृत्यातपहरणखगाः सूर्यपात्रासनाद्याः
दुःखानां हेतवोऽमी कलयति विमतिः सौख्यहेतून् किलैतान् ।५

अर्थः—देखो ! इस बुद्धिशून्य जीवकी समझदारी ! जो धन, गाय, स्त्री, पुत्री, अश्व, घर, वस्त्र, रथ, क्षेत्र, दासी, हाथी, शिष्य, कपूर, आभूषण, दुकान, वन, पालकी, बधु, मित्र, आयुध, माच (पलंग) बावड़ी, भृत्य, छत्र, पक्षी, सूर्य, भाजन और आसन आदि पदार्थ दुःखके कारण है, जिन्हें अपनाने से जरा भी सुख नही मिलता । उन्हे यह सुखके कारण मानता है । अपने मान रात दिन उनको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करता रहता है ॥५॥

हंस ! स्मरसि द्रव्याणि पराणि प्रत्यहं यथा ।
तथा चेत् शुद्धचिद्रूपं मुक्तिः किं ते न हस्तगा ॥६॥

अर्थः—हे आत्मन् ! जिसप्रकार प्रतिदिन तू परद्रव्यों का स्मरण करता है, स्त्री पुत्र आदिको अपना मान उन्ही की चिन्तामें मग्न रहता है, उसीप्रकार यदि तू शुद्धचिद्रूपका भी स्मरण करे–उसीके ध्यान और चिंतवनमे अपना समय व्यतीत करे तो क्या तेरे लिये मोक्ष समीप न रह जाय ? अर्थात् तू बहुत शीघ्र ही मोक्ष सुखका अनुभव करने लग जाय ॥६॥

लोकस्य चात्मनो यत्न रंजनाय करोति यत् ।
तच्चेन्निराकुलत्वाय तर्हि दूरे न तत्पदं ॥७॥

अर्थः—जिसप्रकार यह जीव अपने और लोकके रजायमान करनेके लिये प्रतिदिन उपाय करता रहता है, उसीप्रकार यदि निराकुलतामय–मोक्ष मुखकी प्राप्तिके लिये उपाय करे तो वह मोक्ष स्थान जरा भी उसके लिये दूर न रहे–बहुत जल्दी प्राप्त हो जाय ॥७॥

रंजने परिणामः स्याद् विभावो हि चिदात्मनि ।
निराकुले स्वभावः स्यात् तं विना नास्ति सत्सुखं ॥८॥

अर्थः—अपने और परके रजायमान करनेवाले चिदात्मा मे जो जीवका परिणाम लगता है वह तो विभाव परिणाम गिना जाता है और निराकुल शुद्धचिद्रूपमें जो लगता है वह स्वभाव परिणाम कहा जाता है तथा इस परिणामसे ही सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है–उसके बिना कदापि सच्चा सुख नही मिल सकता ॥८॥

संयोगविप्रयोगौ च रागद्वेषौ सुखासुखे ।
तद्भवेऽत्रभवे नित्यं दृश्येते तद्भवं त्यज ॥९॥

अर्थ—क्या तो यह भव और क्या पर भव ? दोनो भवोमे जीवको सयोग, वियोग, रागद्वेष और सुख दुःखका सामना करना पडता है, इसलिये हे आत्मन् ! तू इस ससार का त्याग कर दे ।

भावार्थः—इष्ट स्त्री पुत्र आदिसे मिलाप होना सयोग है और उनसे जुदाईका नाम वियोग है । पर पदार्थोंसे प्रेम करना राग और वैर रखना द्वेष है । इष्ट पदार्थोंकि संबधसे आत्मामे कुछ शांति होना सुख और अशातिका होना

दु:ख है। ये सब बाते इस भव-परभव दोनो भवोंमे प्रत्यक्ष देखनेमे आती है और इनके संबंधसे सदा परिणामोमे विकलता बनी रहती है इसलिये हे आत्मन् ! यदि तू निराकुलतामय सुखका अनुभव करना चाहता है तो तू उसके मूल कारण ससारका ही सर्वथा त्याग कर दे–मोक्ष स्थानको अपना घर बना ॥९॥

शास्त्राद् गुरोः सधर्मादेर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मनः ।
तस्यावलंबनं कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसंगतिं ॥१०॥

अर्थः—शास्त्र, सद्गुरु और साधर्मी भाइयोसे अपनी आत्माका वास्तविक स्वरूप पहिचानकर उसी (आत्मा) का अवलंबन कर, उसीके स्वरूपका मनन, ध्यान और चिंतवन कर, पर पदार्थोंका ससर्ग करना छोड दे—उन्हे अपने मत मान ॥१०॥

अवश्यं च परद्रव्यं नश्यत्येव न संशयः ।
तद्विनाशे विधातव्यो न शोको धीमता क्वचित् ॥११॥

अर्थः—जो परद्रव्य हैं उनका नाश अवश्य होता है। कोई भी उसके नाशको नही रोक सकता, इसलिये जो पुरुष बुद्धिमान हैं–स्वद्रव्य और परद्रव्यके स्वरूपके भले प्रकार जानकार हैं उन्हे चाहिये कि वे उनके नाश होने पर कभी किसी प्रकारका शोक न करे ॥११॥

त्यक्त्वा मां चिदचित्संगा यास्यंत्येव न संशयः ।
तानहं वा च यास्यामि तत्प्रीतिरिति मे वृथा ॥१२॥

अर्थ.—ये चेतन अचेतन दोनों प्रकारके परिग्रह अवश्य मुझे छोड़ देगे और मैं भी सदा काल इनका संग नही

दे सकता । मुझे भी ये अवश्य छोड देने पड़ेंगे, इसलिये मेरा इनके साथ प्रेम करना व्यर्थ है ।

भावार्थः—स्त्री पुत्र आदि चेतन स्वर्ण रत्न आदि अचेतन परिग्रह यदि सदा काल मेरे साथ रहें और मैं सदा काल इनके साथ रहूँ तब तो इनके साथ मेरा प्रेम करना ठीक है, परन्तु मेरा तो इनके साथ जितने दिनोका सबध है उतने दिनोका है-अवधिके पूर्ण हो जाने पर न मैं अधिक काल तक इनके साथ रह सकता हूँ और न ये ही मेरे साथ रह सकते है, इसलिये मेरा इन्हे अपनाना, इनके साथ प्रेम करना निष्प्रयोजन है ।।१२।।

पुस्तकैर्यत्परिज्ञानं परद्रव्यस्य मे भवेत् ।
तद्धेयं किं न हेयानि तानि तत्त्वावलबिनः ।।१३।।

अर्थ —मैं अब तत्त्वावलवी हो चुका हूँ-अपना और पराये का मुझे पूर्ण ज्ञान हो चुका है, इसलिये शास्त्रोसे उत्पन्न हुआ परद्रव्योका ज्ञान भी जब मेरे हेय-त्यागने योग्य है तब उन परद्रव्योके ग्रहणका तो अवश्य ही त्याग होना चाहिये उनकी ओर झाककर भी मुझे नही देखना चाहिये ।

भावार्थः—यद्यपि आत्मस्वरूपके जाननेके लिये शास्त्र और गुरु आदिके उपदेशसे परद्रव्यके स्वरूपका ज्ञान करना पडता है, परन्तु जिसकी दृष्टि सर्वथा शुद्धचिद्रूपकी ओर झुक गई है-जो तत्त्वावलबी हो गया है उसके लिये जब परद्रव्य का ज्ञान भी हेय है-त्यागने योग्य है (क्योकि वह शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिमे बाधक है) तब उसे परद्रव्योका तो

सर्वथा त्याग कर देना ही चाहिये; क्योंकि वे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति मे बलवान बाधक हैं–परद्रव्योके अपनाने से तो शुद्ध-चिद्रूप की प्राप्ति कभी हो ही नही सकती ।।१३।।

स्वर्णैरत्नैः कलत्रैः सुतगृहवसनैर्भूषणै राज्यखार्थै-
र्गोहस्त्यश्वैश्च पद्गैः रथवरशिविकामित्रमिष्टान्नपानैः ।
चिंतारत्नैर्निधानैः सुरतरुनिवहैः कामधेन्वा हि शुद्ध-
चिद्रूप्राप्ति विनांगी न भवति कृतकृत्यः कदा क्वापि कोपि।१४।

अर्थः—कोई भी प्राणी क्यो न हो जब तक उसे शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति नही होती तब तक चाहे उसके पास स्वर्ण, रत्न, स्त्री, पुत्र, घर, वस्त्र, भूषण, राज्य, इन्द्रियोंके उत्तमोत्तम भोग, गाय, हाथी, अश्व, पदातिसेना, रथ, पालकी, मित्र, महामिष्ट अन्नपान, चिन्तामणि रत्न, खजाने, कल्पवृक्ष, और कामधेनु आदि अगणित पदार्थ क्यों न मौजूद हों, उनसे वह कही किसी कालमे भी कृतकृत्य नही हो सकता ।

भावार्थः—स्वर्ण, रत्न, हाथी, घोड़े आदि सांसारिक पदार्थ अस्थिर हैं–सदाकाल विद्यमान नही रह सकते और पर है; परन्तु शुद्धचिद्रूप शाश्वत है, कभी भी इसका नाश नही हो सकता और निज है, इसलिये स्वर्ण आदि पदार्थोंके प्राप्त हो जाने पर भी मनुष्य कृतकृत्य नही हो सकता–संसार मे उसे बहुतसे कार्य करनेके लिये बाकी रह जाते हैं; किन्तु जिस समय शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति हो जाती है उस समय कोई काम करनेके लिये बाकी नही रहता शुद्धचिद्रूपका स्वामी जीव सदाकाल निराकुलतामय शाश्वत सुखका अनुभव करता रहता है ।।१४।।

परद्रव्यासनाभ्यासं कुर्वन् योगी निरंतरं।
कर्मांगादिपरद्रव्यं मुक्त्वा क्षिप्रं शिवो भवेत् ॥१५॥

अर्थः—निरंतर परद्रव्योंके त्यागका चिंतवन करनेवाला योगी शीघ्र ही कर्म और शरीर आदि परद्रव्योसे रहित हो जाता है और परमात्मा बन मोक्षसुखका अनुभव करने लगता है ॥१५॥

कारणं कर्मबंधस्य परद्रव्यस्य चिंतनं।
स्वद्रव्यस्य विशुद्धस्य तन्मोक्षस्यैव केवलं ॥१६॥

अर्थः—स्त्री पुत्र आदि परद्रव्योके चिंतवनसे केवल कर्म बंध होता है और स्वद्रव्य-विशुद्धचिद्रूपके चिंतवन करनेसे केवल मोक्षसुख ही प्राप्त होता है–संसारमे भटकना नही पड़ता ॥१६॥

प्रादुर्भवंति निःशेषा गुणाः स्वाभाविकाश्चितः।
दोषा नश्यंत्यहो सर्वे परद्रव्यवियोजनात् ॥१७॥

अर्थः—समस्त परद्रव्योके सर्वथा त्यागसे, उन्हे न अपनानेसे आत्माके स्वाभाविक गुण केवलज्ञान आदि प्रकट होते हैं और दोषोंका नाश होता है ॥१७॥

समस्तकर्मदेहादिपरद्रव्यविमोचनात्।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिर्या सा मुक्तिरिति कथ्यते ॥१८॥

अर्थः—कर्म और शरीर आदि परद्रव्योके सर्वथा त्याग से शुद्धचिद्रूपकी प्राप्ति होती है और उसे ही यतिगण मोक्ष कहकर पुकारते हैं।

भावार्थः—समस्त कर्मोका नाश हो जाना मोक्ष बतलाया है और वही विशुद्धचिद्रूप है; क्योकि विशुद्धचिद्-रूप की प्राप्ति समस्त कर्मोके नाशसे होती है, इसलिये विशुद्ध चिद्रूप और मोक्षके नाममे भेद होने पर भी अर्थमे कुछ भी भेद नही है ॥१८॥

अतः स्वशुद्धचिद्रूपलब्धये तत्त्वविन्मुनिः ।
वपुषा मनसा वाचा परद्रव्यं परित्यजेत् ॥१९॥

अर्थः—इसलिये जो मुनिगण भलेप्रकार तत्त्वोके जानकार हैं-स्व और परका भेद पूर्णरूपसे जानते हैं। वे विशुद्ध चिद्रूपकी प्राप्तिके लिये मन, वचन और कायसे परद्रव्यका सर्वथा त्याग कर देते हैं—उनमे जरा भी ममत्व नही करते ॥१९॥

दिक्चेलको हस्तपात्रो निरीहः साम्यारूढस्तत्त्ववेदी तपस्वी
मौनी कर्मौघेभसिंहो विवेकी सिद्धयै स्यात्स्वे चित्स्वरूपेऽ
भिरक्तः ॥२०॥

इति मुमुक्षुभट्टारक श्री ज्ञानभूषण विरचितायां तत्त्वज्ञान तरंगिण्यां
शुद्धचिद्रूप लब्ध्यै परद्रव्यत्याग प्रतिपादकः
पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

अर्थः—जो मुनि दिगम्बर, पाणिपात्र वाले, समस्त प्रकारकी इच्छाओसे रहित, समताके अवलंबी, तत्त्वोंके वेत्ता, तपस्वी, मौनी, कर्मरूपी हाथियोंके विदारण करनेमें सिंह,

शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति के लिये निर्जन स्थान के आश्रय को बतलाने वाला

सोलहवाँ अध्याय

सद्बुद्धेः पररंजनाकुलविधित्यागस्य साम्यस्य च
ग्रंथार्थग्रहणस्य मानसवचोरोधस्य वाधाहृतेः।
रागादित्यजनस्य काव्यजमतेश्चेतो विशुद्धेरपि
हेतुः स्वोत्थसुखस्य निर्जनमहो ध्यानस्य वा स्थानकं ॥१॥

अर्थः—उत्तमज्ञान, पर को रजायमान करने में आकुलता का त्याग, समता, शास्त्रो के अर्थ का ग्रहण, मन और वचन का निरोध, रागद्वेप आदि का त्याग, काव्यो में बुद्धि का लगना, मन की निर्मलता, आत्मिक सुख का लाभ और ध्यान, निर्जन एकान्त स्थान के आश्रय करने से ही होता है।

भावार्थः—जब तक उत्तम ज्ञान, समता, शास्त्र, ध्यान और उत्तम आत्मिक सुख आदि प्राप्त नही होते तब तक किसी प्रकार से आत्माको शाति नही मिल सकती और उनकी प्राप्ति एकांत स्थान के आश्रय से ही होती है, इसलिये जो मनुष्य उत्तम ज्ञान आदि के अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे पवित्र और एकांत स्थान का अवश्य आश्रय करे ॥१॥

पार्श्ववर्त्यंगिना नास्ति केनचिन्मे प्रयोजनं।
मित्रेण शत्रुणा मध्यवर्त्तिना वा शिवार्थिनः ॥२॥

अर्थः—मैं शिवार्थी हूं—अपनी आत्मा को निराकुलतामय सुख का आस्वाद कराना चाहता हूँ, इसलिये मुझे शत्रु,

मित्र और मध्यस्थ किसी भी पासमे रहने वाले जीवसे कोई प्रयोजन नही अर्थात् पास मे रहने वाले जीव, मित्र, शत्रु और मध्यस्थ सब मेरे कल्याण के बाधक है ॥२॥

इंदोर्वृद्धौ समुद्रः सरिदमृतबलं वर्द्धते मेघवृष्टे-
र्मोहानां कर्मबधो गद इव पुरुषस्यामभुक्तेरवश्यं ।
नानावृत्ताक्षराणामवनिवरतले छदसां प्रस्तरश्च
दुःखौघागो विकल्पास्त्रवचनकुल पार्श्ववर्त्यंगिना हि॥३॥

अर्थः—जिस प्रकार चन्द्रमा के सबध से समुद्र, वर्षा से नदी का जल, मोह के सबध से कर्मबध, कच्चे भोजन से पुरुषोके रोग और नाना प्रकारके छदके अक्षरो से शोभित छन्दो के सबध से प्रस्तार उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार पार्श्ववर्ती जीवो के सबध से नाना प्रकार के दु.ख और विकल्पमय वचनो का सामना करना पड़ता है।

भावार्थः—जिस प्रकार समुद्र की वृद्धि मे चन्द्रमा, नदी के जल की वढवारी मे मेघ, कर्म बन्ध मे मोह, रोग की उत्पत्ति मे अपक्व भोजन और छन्दो की रचना में प्रस्तार कारण हैं, उसी प्रकार पार्श्ववर्ती जीवो का सबध नाना प्रकार के दु:खोके देने और परिणामो के विकल्पमय करने में कारण है, इसलिये कल्याणके अभिलाषियोको वह सर्वथा वर्जनीय है ॥३॥

वृद्धि यात्येधसो वन्हिर्वृद्धौ धर्मस्य वा तृषा ।
चिंता संगस्य रोगस्य पीडा दुःखादि सगतेः ॥४॥

अर्थः—जिस प्रकार ईंधनसे अग्निकी, धूपसे प्यासकी, परिग्रहसे चिन्ताकी और रोगसे पीडा की वृद्धि होती है, उसी

प्रकार प्राणियोंकी संगतिसे पीड़ा और दुःख आदि सहन करने पड़ते हैं ।।४।।

विकल्पः स्याज्जीवे निगडनगजवालजलधि-
प्रदावाग्न्यातापप्रगदहिमताजालसदृशः ।
वरं स्थानं छेत्रीपविरविकरागस्ति जलदा-
गदज्वालाशस्त्रीसममतिभिदे तस्य विजनं ।।५।।

अर्थः—जीवोंके विकल्प—वेडी, पर्वत, कीचड, समुद्र, दावाग्नि का सताप, रोग, शीतलता और जालके समान होते है, इसलिये उनके नाशके लिये छैनी, वज्र, सूर्य, अगस्त, नक्षत्र, मेघ, औषध, अग्नि और छुरीके समान निर्जन स्थान का ही आश्रय करना उचित है ।

भावार्थः—जिसप्रकार बेड़ीके काटनेमे छैनी, पर्वतके खंड करनेमे वज्र, कीचडके सुखानेमे सूर्य, समुद्रके जलको शुष्क करनेमें अगस्त ऋषि, वनाग्नि के बुझानेमें मेघ, रोगके नाश करनेमें औषधि, शीतलता नष्ट करनेमे अग्नि और जाल के काटनेमे छुरी कारण है । बिना छैनी आदिके बेड़ी आदि का फन्द कट नही सकता, उसीप्रकार विकल्पोंके नाश करनेमें निर्जन स्थान कारण है । निर्जन स्थानका बिना आश्रय किये विकल्प कभी नही हट सकते ।।५।।

तपसां बाह्य भूतानां विविक्तशयनासनं ।
महत्तपो गुणोद्भूतेरागत्यागस्य हेतुतः ।।६।।

अर्थः—बाह्य तपोमें विविक्त शयनासन (एकांत स्थान मे सोना और बैठना) तपको महान तप बतलाया है; क्योंकि

इसके आराधन करनेसे आत्मामे गुणोकी प्रगटता होती है और मोहका नाश होता है ।

भावार्थः—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त शयनासन और कायक्लेशके भेदसे बाह्य तप छै प्रकार का है; परन्तु उन सबमे उत्तम और महान तप विविक्तशयनासन ही है; क्योकि इसके आराधन करनेसे आत्मामे नाना प्रकारके गुणोकी प्रकटता और समस्त मोहकी नास्ति होती है ।।६।।

काचिच्चिंता सगतिः केनचिच्च रोगादिभ्यो वेदना तीव्रनिद्रा ।
प्रादुर्भूतिः क्रोधमानादिकानां मूर्च्छा ज्ञेया ध्यानविध्वंसिनी च ।।७।।

अर्थः—स्त्री पुत्र आदि की चिन्ता प्राणियोके साथ सगति, रोग आदि से वेदना, तीव्रनिद्रा और क्रोध मान आदि कषायोकी उत्पत्ति होना मूर्च्छा है और इस मूर्च्छासे ध्यानका सर्वथा नाश होता है ।

भावार्थः—स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं । इस प्रकारके परिणामका नाम मूर्च्छा है, इसलिये इससे मनुष्य को नाना प्रकार की चिंताये, प्राणियोके साथ सगति, रोग आदिसे तीव्र वेदना, अधिक निद्रा, क्रोध, मान, माया आदि कषायोकी उत्पत्ति होती है तथा ध्यानका नाश होता है—मूर्छित मनुष्य किसी प्रकारका ध्यान नही कर सकता ।।७।।

संगत्यागो निर्जनस्थानकं च तत्वज्ञानं सर्वचिंताविमुक्तिः ।
निर्बाधत्वं योगरोधो मुनीनां मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः।।८।।

अर्थः—बाह्य अभ्यंतर दोनो प्रकारके परिग्रहका त्याग, एकांत स्थान, तत्वोका ज्ञान, समस्त प्रकारकी चिंताओसे

रहितपना, किसी प्रकारकी बाधाका न होना और मन, वचन तथा कायका वश करना ये ध्यानके कारण हैं और इनका आश्रय करनेसे मुनियोको मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥८॥

विकल्पपरिहाराय संगं मुंचंति धोधनाः ।
सगति च जनैः सार्द्धं कार्यं किंचित्स्मरंति न ॥६॥

अर्थः—जो मनुष्य बुद्धिमान है-स्व और परके स्वरूप के जानकर होकर अपनी आत्माका कल्याण करना चाहते हैं, वे ससार के कारणस्वरूप विकल्पोके नाश करनेके लिये बाह्य अभ्यंतर दोनो प्रकारके परिग्रहका त्याग कर देते है, दूसरे मनुष्योकी सगति और किसी कार्यका चितवन भी नही करते ॥६॥

वृश्चिका युगपत्स्पृष्टाः पीडयंति यथांगिनः ।
विकल्पाश्च तथात्मानं तेषु सत्सु कुतः सुख ॥१०॥

अर्थः—जिस प्रकार शरीर पर एक साथ लगे हुए अनेक बिच्छू प्राणीको काटते और दु.खित बनाते है उसी प्रकार अनेक प्रकारके विकल्प भी आत्माको बुरी तरह दुखाते है। जरा भी शातिका अनुभव नहीं करने देते, इसलिए उन विकल्पोकी मौजूदगीमें आत्माको कैसे सुख हो सकता है ? विकल्पोके जालमे फॅसकर रत्तीभर भी यह जीव सुखका अनुभव नही कर सकता ॥१०॥

बाह्यसंगतिसंगस्य त्यागे चेन्मे परं सुखं ।
अंतः संगतिसंगस्य भवेत् किं न ततोऽधिकं ॥११॥

अर्थः—जब मुझे बाह्य सगतिके त्यागसे ही परम

सुखकी प्राप्ति होती है तब अंतरंग संगतिके त्यागसे तो और भी अधिक सुख मिलेगा।

भावार्थ:—जब मुझे स्त्री पुत्र आदि बाह्य पदार्थोंकी सगतिके त्यागसे ही परम सुख प्राप्त होता है, तब राग द्वेष आदि अंतरग पदार्थोंकी सगतिके त्यागसे तो उससे भी अधिक सुख मिलेगा ॥११॥

बाह्यसंगतिसंगेन सुखं मन्येत मूढधीः।
तत्त्यागेन सुधीः शुद्धचिद्रूपध्यानहेतुना ॥१२॥

अर्थ:—जो पुरुष मुग्ध हैं–अपना पराया जरा भी भेद नही जानते। वे बाह्य पदार्थोंकी संगतिसे अपनेको सुखी मानते हैं; परन्तु जो बुद्धिमान हैं–तत्त्वोके भले प्रकार वेत्ता हैं, वे यह जानकर कि बाह्य पदार्थोंकी सगतिका त्याग ही शुद्ध-चिद्रूपके ध्यानमे कारण है–उसके त्यागसे ही शुद्धचिद्रूपका ध्यान हो सकता है, बाह्य पदार्थोंका सहवास न करने से ही अपनेको सुखी मानते हैं ॥१२॥

अवमौदर्यात्साध्यं विविक्तशय्यासनाद्विशेषेण।
अध्ययनं सध्यानं मुमुक्षुमुख्याः पर तपः कुर्युः ॥१३॥

अर्थ:—जो पुरुष मुमुक्षुओमे मुख्य हैं। बहुत जल्दी मोक्ष जाना चाहते है उन्हें चाहिए कि वे अवमौदर्य और विविक्तशय्यासनकी सहायतासे निष्पन्न ध्यानके साथ अध्ययन, स्वाध्यायरूप परम तपका अवश्य आराधन करें।

भावार्थ:—ध्यान और स्वाध्याय तप तभी सिद्ध हो सकते हैं, जब अवमौदर्य (थोडा आहार करना) और विविक्त शय्यासन तपोका विशेष रूपसे आश्रय किया जाय, क्योकि

जो मनुष्य गरिष्ठ या भरपेट भोजन करेगा और जनसमुदायमें रहेगा, वह ध्यान और स्वाध्याय कदापि नही कर सकता, इसलिए उत्तम पुरुषोको स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्धिके लिए आलस्य न दबा बैठे, इस कारण बहुत कम आहार और एकान्त स्थानका आश्रय करना चाहिए ॥१३॥

ते वंद्याः गुणिनस्ते च ते धन्यास्ते विदांवराः ।
वसति निर्जने स्थाने ये सदा शुद्धचिद्रताः ॥१४॥

अर्थः—जो मनुष्य शुद्धचिद्रूपमें अनुरक्त हैं और उसकी प्राप्तिके लिए निर्जन स्थानमें निवास करते है । ससारमें वे ही वदनीक सत्कारके योग्य, गुणी, धन्य और विद्वानोके शिरोमणि हैं अर्थात् उत्तम पुरुष उन्हीका आदर सत्कार करते है और उन्हें ही गुणी, धन्य और विद्वानोमे उत्तम मानते हैं ॥१४॥

निर्जनं सुखदं स्थानं ध्यानाध्ययनसाधनं ।
रागद्वेषविमोहानां शातनं सेवते सुधीः ॥१५॥

अर्थः—यह निर्जन स्थान अनेक प्रकारके सुख प्रदान करने वाला है, ध्यान और अध्ययनका कारण है, राग, द्वेष और मोहका नाश करने वाला है, इसलिए बुद्धिमान पुरुष अवश्य उसका आश्रय करते हैं ॥१५॥

सुधाया लक्षणं लोका वदंति बहुधा मुधा ।
बाधाजंतुजनैर्मुक्तं स्थानमेव सतां सुधा ॥१६॥

अर्थः—लोक सुधा (अमृत) का लक्षण भिन्न ही प्रकार से बतलाते है; परन्तु वह ठीक नही मिथ्या है; क्योकि जहां पर किसी प्रकारको बाधा, डाँस मच्छर आदि जीव हैं और

जन समुदाय न हो ऐसे एकान्त स्थानका नाम ही वास्तवमे सुधा है ।

भावार्थः—जो सुख देने वाला हो वही सुधा (अमृत) है । शुद्धचिद्रूपके अभिलाषियोको समस्त प्रकारके उपद्रवोसे रहित एकान्त स्थान सुखका देनेवाला है, इसलिए उनके लिए वही अमृत है और लोक कथित अमृत, अमृत नही है ॥१६॥

भूमिगृहे समुद्रादितटे पितृवने वने ।
गुहादौ वसति प्राज्ञः शुद्धचिद्ध्यानसिद्धये ॥१७॥

अर्थः—जो मनुष्य बुद्धिमान हैं—हित अहितके जानकार हैं वे शुद्धचिद्रूपके ध्यानकी सिद्धिके लिए जमीनके भीतर, घरोमे, सुरगोमे, समुद्र नदी आदिके तटो पर, श्मशान भूमियोमे और वन गुफा आदि निर्जन स्थानोमे निवास करते हैं ॥१७॥

विविक्तस्थानकाभावात् योगिनां जनसगमः ।
तेषामालोकनेनैव वचसा स्मरणेन च ॥१८॥

जायते मनस स्पंदस्ततो रागादयोऽखिलाः ।
तेभ्यः क्लेशो भवेत्तस्मान्नाश याति विशुद्धता ॥१९॥

तया विना न जायेत शुद्धचिद्रूपचिंतनं ।
विना तेन न मुक्तिः स्यात् परमाखिलकर्मणां ॥२०॥

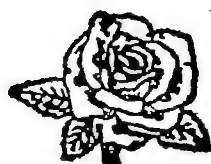
॥ चतुःकलं ॥

तस्माद्विविक्तसुस्थानं ज्ञेयं संक्लेशनाशनं ।
मुमुक्षु योगिनां मुक्तेः कारण भववारणं ॥२१॥

इति मुमुक्षु भट्टारक श्री ज्ञानभूषण विरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपलब्ध्यै निर्जनस्थानाश्रयणप्रतिपादकः षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

अर्थः—एकान्त स्थानके अभावसे योगियोको जनोंके संघट्टमे रहना पडता है, इसलिए उनके देखने, वचन सुनने और स्मरण करनेसे उनका मन चचल हो उठता है। मनकी चचलतासे विशुद्धिका नाश होता है और विशुद्धिके बिना शुद्धचिद्‌रूपका चितवन नही हो सकता तथा बिना उसके चितवन किए समस्त कर्मोंके नाशसे होने वाला मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता, इसलिए मोक्षाभिलाषी योगियोंको चाहिए कि वे एकान्त स्थानको समस्त दु:खोका दूर करने वाला, मोक्षका कारण और ससार का नाश करने वाला जान अवश्य उसका आश्रय करें ॥१८–२१॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषणनिर्मित तत्त्वज्ञान तरंगिणीमें "शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके लिए निर्जन स्थानके आश्रयका" बतलाने वाला सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१६॥



"शुद्ध चिद्रूप में प्रेम बढ़े" इस कारण वास्तविक सुख का प्रतिपादन करने वाला

सत्रहवां अध्याय

मुक्ताविद्रुमरत्नधातुरससूवस्त्रान्नरुग्भूरुहां
स्त्रीभाश्वाहिगवां नृदेवविदुषां पक्षांबुगानामपि ।
प्रायः संतिपरीक्षकाः भुवि सुखस्यात्यल्पका हा यतो
दृश्यते खभवे रताश्च बहवः सौख्ये च नातींद्रिये ।।१।।

अर्थः—इस ससारमे मोती, मू गा, रत्न धातु, रस, पृथ्वी, वस्त्र, अन्न, रोग, वृक्ष, स्त्री, हाथो, घोड़े, सर्प, गाय, मनुष्य, देव, विद्वान, पक्षी और जलचर जीवोकी परीक्षा करने वाले अनेक मनुष्य हैं। इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए ऐंद्रियिक सुखमे भी बहुतसे अनुरक्त हैं, परन्तु निराकुलतामय सुखकी परीक्षा और उसमे अनुराग करने वाले बहुत हो थोडे हैं।

भावार्थ—इस ससारमे परीक्षा करने वाले विद्वान पुरुषोकी और सुखके अनुभव करने वालोकी कमी नही है, परन्तु वे यह नही समझते हैं कि हमे किस बातकी परीक्षा और कैसे सुखका अनुभव करना चाहिए ? बहुतसे मनुष्य मोती, मू गा, रत्न, स्वर्ण आदि धातु, उत्तमोत्तम रस, पृथ्वी, रोग, हाथी, अश्व आदि पदार्थोंको परीक्षामे प्रवीण है। इन्द्रियजन्य सुखोका भी पूर्णतया अनुभव करना जानते है, परन्तु उनकी उस प्रकारकी परीक्षा और अनुभव कार्यकारी नही, क्योकि ये सब पदार्थ अनित्य है। नित्य पदार्थ

निराकुलतामय सुख है, इसलिए उसीकी परीक्षा और अनुभवसे कार्य और कल्याण हो सकता है ॥१॥

निर्द्रव्यं स्ववशं निजस्थमभयं नित्यं निरीहं शुभं
निर्द्वंद्वं निरुपद्रवं निरुपमं निर्बंधमूहातिगं ।
उत्कृष्टं शिवहेत्वदोषममलं यद्दुर्लभं केवलं
स्वात्मोत्थं सुखमीदृशं च स्वभवं तस्माद्विरुद्धं भवेत् ।२।

अर्थः—यह आत्मोत्थ निराकुलतामय सुख, निर्द्रव्य है—पर द्रव्योके सपर्कसे रहित है, स्वाधीन, आत्मिक भयोसे रहित, नित्य, समस्त प्रकारकी इच्छाओ से रहित, शुभ, निर्द्वंद्व, सब प्रकारके उपद्रवोसे रहित, अनुपम, कर्मबधोसे रहित, तर्क वितर्कके अगोचर, उत्कृष्ट, कल्याणोका करनेवाला, निर्दोष, निर्मल और दुर्लभ है, परन्तु इन्द्रियजन्य सुख सर्वथा इसके विरुद्ध है। वह परद्रव्योके सम्बन्धसे होता है, पराधीन, पर, नाना प्रकारके भयोका करने वाला, विनाशीक अनेक प्रकारकी इच्छा उत्पन्न करनेवाला, अशुभ, आकुलतामय, अनेक प्रकारके उपद्रवोको खडा करने वाला, महानिदनीक, कर्मबन्धका कारण,महानिकृष्ट, दु.ख देने वाला, अनेक प्रकारके दोष और मलोका भडार तथा सुलभ है, इसलिए सुखाभिलाषी जीवोको चाहिए कि निराकुलतामय सुखकी प्राप्तिका उपाय करे ॥२॥

वैराग्यं त्रिविधं निधाय हृदये हित्वा च संगं त्रिधा
श्रित्वा सद्गुरुमागमं च विमलं धृत्वा च रत्नत्रयं ।
त्यक्त्वान्यैः सह संगतिं च सकलं रागादिकं स्थानके
स्थातव्यं निरुपद्रवेऽपि विजने स्वात्मोत्थसौख्याप्तये ।३।

अर्थः—जो पुरुष आत्मिक शातिमय सुखके अभिलाषी हैं। उसे हस्तगत करना चाहते हैं उन्हे चाहिए कि वे ससार, शरीर और भोगोंका त्यागरूप तीन प्रकारका वैराग्य धारण कर, चेतन, अचेतन और मिश्र तीनो प्रकारका परिग्रह छोडकर, निर्ग्रन्थ गुरु, निर्दोष शास्त्र, सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रयका आश्रय कर, दूसरे जीवोका सहवास और राग द्वेष आदिका सर्वथा त्यागकर सब उपद्रवो से रहित एकान्त स्थान मे निवास करें।

भावार्थः—जब तक संसार, शरीर और भोगोंसे ममत्व न हटेगा, स्वर्ण, रत्न, क्रोध, मान, स्त्री, पुत्र, दासी, दास आदि परिग्रहका त्याग नही होगा, श्रेष्ठ गुरु, निर्दोष शास्त्र और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका आराधन नही किया जायगा, अन्य मनुष्योका सहवास और रागादि दूर न कर दिए जायेंगे और एकान्त स्थानमे निवास नही किया जायगा, तब तक निराकुलतामय सुख प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है, इसलिए जो मनुष्य इस सुखके अभिलाषी हैं उन्हे चाहिए कि वे उपर्युक्त बातो पर अवश्य ध्यान दें ॥३॥

खसुखं न सुखं नृणां किंत्वभिलाषाग्निवेदनाप्रतीकारः ।
सुखमेव स्थितिरात्मनि निराकुलत्वाद्विशुद्धपरिणामात् ॥४॥

अर्थ.—इन्द्रियजन्य सुख, सुख नही है; किन्तु मनुष्यो की अभिलाषारूप अग्निजन्य वेदनाओको नष्ट करने वाला सुख, सुख है और वह सुख, निराकुलरूप और शुद्ध परिणामसे जो अपने चिदानंदस्वरूप आत्मामे स्थितिका होना है, वह है।

भावार्थः—जिस सुखसे हमारी अभिलाषा और वेदनायें नष्ट हो वही वास्तवमे सुख है । इन्द्रियजन्य सुख, सुख नही कहा जा सकता, क्योकि वह परिणाममें दुःख देने वाला है और अभिलाषा तथा वेदनाओका उत्पादक है, इसलिए उस अनुपम सुखको प्राप्त करनेके लिए निराकुलता और विशुद्ध परिणामोसे अपनी आत्मामें स्थिति करनी चाहिए ।।४।।

नो द्रव्यात्कीर्तितः स्याच्छुभखविषयतः सौधतूर्यत्रिकाद्वा
रूपादिष्टागमाद्वा तदितरविगमात् क्रीडनाद्याद्दतुभ्यः ।
राज्यात्सराजमानात् बलवसनसुतात्सत्कलत्रात्सुगीतात्
भूषाद् भूजागयानादिह जगति सुखं तात्त्विकं व्याकुलत्वात् ।५।

अर्थः—यह निराकुलतामय तात्त्विक सुख न द्रव्यसे प्राप्त हो सकता है, न कीर्ति, इन्द्रियोंके शुभ विषय, उत्तम महल और गाजे बाजोसे मिल सकता है । उत्तम रूप, इष्ट पदार्थोंका समागम, अनिष्टोका वियोग और उत्तमोत्तम क्रीड़ा आदि भी इसे प्राप्त नही करा सकते । छह ऋतु, राज्य, राजाकी ओरसे सन्मान, सेना, उत्तम वस्त्र, पुत्र, मनोहारिणी स्त्री, कर्णप्रिय गाना, भूषण, वृक्ष, पर्वत और सवारी आदिसे भी प्राप्त नही हो सकता; क्योकि द्रव्य आदिके संबंधसे चित्त व्याकुल रहता है और चित्तकी व्याकुलता, निराकुलतामय सुखको रोकनेवाली होती है ।

भावार्थः—चाहे मनुष्य कैसा भी द्रव्यपात्र क्यों न हो जाय । कीर्ति, इन्द्रियोके विषय, महल, रूप, राज्य आदि पदार्थ भी उसके क्यो न यथेष्ट हो जांय; परन्तु उनसे वह निराकुलतामय सुखका अनुभव नही कर सकता । सदा उसके

परिणाम द्रव्य, कीर्ति आदि पदार्थोंके जुटानेमे ही व्यग्र रहते हैं ॥५॥

पुरे ग्रामेऽटव्यां नगशिरसि नदीशादिसुतटे
मठे दर्यां चैत्योकसि सदसि रथादौ च भवने ।
महादुर्गे स्वर्गे पथनभसि लतावस्त्रभवने
स्थितो मोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक् ॥६॥

अर्थः—जो मनुष्य मोहसे मूढ़ और परसमयमे रत हैं—पर पदार्थोंको अपनाने वाले हैं। वे चाहे पुर, गांव, वन, पर्वतके अग्रभाग, समुद्र नदी आदिके तट, मठ, गुफा, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किले, स्वर्ग, भूमि, मार्ग, आकाश, लतामंडप और तम्बू आदि स्थानोमे किसी स्थान पर निवास करे, उसे निराकुलतामय सुखका कण तक प्राप्त नही हो सकता अर्थात् मोह और परद्रव्योका प्रेम निराकुलतामय सुखका बाधक है ॥६॥

निगोते गूयकीटे पशुनृपतिगणे भारवाहे किराते
सरोगे मुक्तरोगे धनवति विधने वाहनस्थे च पद्गे ।
युवादौ बालवृद्धे भवति हि खसुखं तेन किं यत् कदाचित्
सदा वा सर्वदैवैतदपि किल यतस्तन्न चाप्राप्तपूर्वं ॥७॥

अर्थः—निगोदिया जीव, विष्टाका कीडा, पशु, राजा, भार वहन करने वाले, भील, रोगी, नीरोगी, धनवान, निर्धन, सवारी पर घूमने वाले, पैदल चलने वाले, युवा, बालक, वृद्ध और देवो में जो इन्द्रियोसे उत्पन्न सुख कभी या सदा देखनेमें आता है उससे क्या प्रयोजन ? अथवा वह सर्वदा ही बना रहे तब भी क्या प्रयोजन ? क्योकि वह पहिले कभी

भी नहीं प्राप्त हुआ ऐसा निराकुलतामय सुख नही है अर्थात् इन्द्रियोमे उत्पन्न सुख विनाशीक है और सुलभरूपसे कहीं न कही कुछ न कुछ अवश्य मिल जाता है; परन्तु निराकुलतामय सुख नित्य अविनाशी है और आत्माको बिना विशुद्ध किए कभी प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए इन्द्रिय सुख कैसा भी क्यो न हो वह कभी निराकुलतामय सुखकी तुलना नहीं कर सकता ॥७॥

ज्ञेयावलोकनं ज्ञानं सिद्धानां भविनां भवेत् ।
आद्यानां निर्विकल्पं तु परेषां सविकल्पकं ॥८॥

अर्थः—पदार्थोंका देखना और जानना (दर्शन और ज्ञान) सिद्ध और संसारी दोनोके होता है; परन्तु सिद्धोके वह निर्विकल्प-आकुलतारहित और संसारी जीवोके सविकल्प आकुलतासहित होता है ॥८॥

व्याकुलः सविकल्पः स्यान्निर्विकल्पो निराकुलः ।
कर्मबंधोऽसुखं चाद्ये कर्माभावः सुखं परे ॥९॥

अर्थः—जिस ज्ञानकी मौजूदगीमे आकुलता हो वह ज्ञान सविकल्पक और जिसमे आकुलता न हो वह ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाता है। उनमें सविकल्प ज्ञानके होने पर कर्मोंका बंध और दु ख भोगना पडता है और निर्विकल्पक ज्ञानके होने पर कर्मोका अभाव और परम सुख प्राप्त होता है।

भावार्थः—मनःपर्यय ज्ञान और अवधिदर्शन तक जितने ज्ञान और दर्शन हैं, सब सविकल्पक है। उनकी विद्यमानतामे कुछ न कुछ आत्मामे विकल्प हुआ भी करते हैं और विकल्पोसे कर्मबन्ध एवं दुःख भोगने पड़ते है, परन्तु जिस

समय केवलदर्शन और केवलज्ञान रूप निर्विकल्पक दर्शन ज्ञान प्राप्त हो जाते हैं, उस समय विकल्प शात हो जाते हैं। कर्मोंका नाश और निराकुलतामय सुख भी प्राप्त हो जाता है ॥९॥

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम ॥१०॥

अर्थः—आकुलताके भंडार इस सविकल्पक सुखका मैंने बहुत बार अनुभव किया है। जिस गतिमे गया हूँ वहां मुझे सविकल्प ही सुख प्राप्त हुआ है, इसलिए वह मेरे लिए अपूर्व नही है; परन्तु निराकुलतामय—निर्विकल्पक सुख मुझे कभी प्राप्त नही हुआ, इसलिए उसीकी प्राप्तिके लिए मेरी अत्यन्त इच्छा है—वह कब मिले इस आशासे सदा मेरा चित्त भटकता फिरता है ॥१०॥

ज्ञेयज्ञानं सरागेण चेतसा दुःखमंगिनः।
निश्चयश्च विरागेण चेतसा सुखमेव तत् ॥११॥

अर्थः—रागी, द्वेषी और मोही चित्तसे जो पदार्थोंका ज्ञान किया जाता है वह दुःखस्वरूप है—उस ज्ञानसे जीवोंको दुःख भोगना पडता है और वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह चित्तसे जो पदार्थोंका ज्ञान होता है, वह सुख स्वरूप है—उस ज्ञानसे सुखकी प्राप्ति होती है ॥११॥

रवेः सुधायाः सुरपादपस्य चिंतामणेरुत्तमकामधेनोः।
दिवो विदग्धस्य हरेरखर्वं गर्वं हरन् भो विजयी चिदात्मा ॥१२॥

अर्थः—हे आत्मन्! यह चिदात्मा, सूर्य, अमृत, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु, स्वर्ग, विद्वान और विष्णुके अखड गर्वको देखते देखते चूर करने वाला है और विजयशील है।

भावार्थः—यह चिदात्मा दीप्तिमें सूर्यसे भी चढ़ बढकर है–महादीप्तिमान है, आनन्द प्रदान करनेमें अमृतको भी जीतने वाला है, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और कामधेनुसे भी अधिक इच्छाओंको पूरण करने वाला है। स्वर्गसे भी अधिक सुख देने वाला, अपनी विद्वत्ता से विद्वानकी विद्वत्ता जीतनेवाला और विष्णुसे अधिक अखंड प्रतापका भण्डार है ॥ १२ ॥

चिंता दुःखं सुखं शांतिस्तस्या एतत्प्रतीयते ।
तच्छांतिर्जायते शुद्धचिद्रूपे लयतोऽचला ॥१३॥

अर्थः—जिस अचल शांतिसे संसारमे यह मालूम होता है कि यह चिंता है, यह दुःख है, यह सुख और शांति है–वह (शाति) इसी शुद्धचिद्रूपमें लीनता प्राप्त करनेसे होती है। बिना शुद्धचिद्रूपमे लीनता प्राप्त किये चिंता, दुःख आदिके अभावके स्वरूपका ज्ञान नही हो सकता ॥१३॥

मुंच सर्वाणि कार्याणि संगं चान्यैश्च संगतिं ।
भो भव्य ! शुद्धचिद्रूपलये वांछास्ति ते यदि ॥१४॥

अर्थः—हे भव्य ! यदि तू शुद्धचिद्रूपमें लीन होकर जल्दी मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो तू सांसारिक समस्त कार्य, बाह्य अभ्यन्तर दोनो प्रकारके परिग्रह और दूसरोका सहवास सर्वथा छोड़ दे ॥१४॥

मुक्ते बाह्ये परद्रव्ये स्यात्सुखं चेच्चितो महत् ।
सांप्रतं किं तदाबोऽतः कर्मादौ न महत्तरं ॥१५॥

अर्थः—जब बाह्य परद्रव्यसे रहित हो जाने पर भी आत्माको महान् सुख मिलता है तब कर्म आदिके नाश हो

जाने पर तो उससे भी अधिक महान् सुख प्राप्त होगा ।। १५ ।।

इंद्रियैश्च पदार्थानां स्वरूपं जानतोऽगिनः ।
यो रागस्तत्सुखं द्वेषस्तद्दुःखं भ्रांतिजं भवेत् ।।१६।।
यो रागादिविनिर्मुक्तः पदार्थानखिलानपि ।
जानन्निराकुलत्वं यत्तात्त्विकं तस्य तत्सुख ।।१७।।

अर्थः—इन्द्रियोके द्वारा पदार्थोके स्वरूप जानने वाले इस जीवका जो उनमे राग होता है वह सुख और द्वेप होता है वह दु ख है यह मानना नितात भ्रम है, किन्तु जो पुरुष राग और द्वेष आदिसे रहित है, समस्त पदार्थोका जानकार है उसके जो समस्त प्रकारकी आकुलताका त्याग है—निराकुलता है, वही वास्तविक सुख है ।

भावार्थः—यह जीव स्त्री पुत्र आदि परपदार्थोमे कुछ राग होनेसे सुख और उनमे द्वेष हो जानेसे दु ख मानता है; परन्तु वास्तवमे वे दोनो ही (रागद्वेष) दु खस्वरूप हैं, क्योकि उनसे जीवके परिणाम आकुलतामय रहते हैं; किन्तु जहा पर आकुलता न हो वही वास्तविक सुख है और वह सुख राग द्वेष आदिसे रहित समस्त पदार्थोके जानने वाले महान पुरुषके ही होता है ।।१६–१७।।

इंद्राणां सार्वभौमानां सर्वेषां भावनेशिनां ।
विकल्पसाधनैः खार्थैर्व्याकुलत्वात्सुखंकुतः ।।१८।।
तात्त्विकं च सुखं तेषां ये मन्यंते ब्रुवंति च ।
एवं तेषामहं मन्ये महती भ्रांतिरुद्गता ।।१९।।

अर्थः—इन्द्र, चक्रवर्ती और भवनवासी देवोंके स्वामियों के जितने इद्रियोंके विषय होते हैं वे विकल्पोसे होते हैं। अपने अर्थोंके सिद्ध करनेमे उन्हें नाना प्रकारके विकल्प करने पड़ते है और उन विकल्पोंसे सदा चित्त आकुलतामय रहता है, इसलिए सुख नामका पदार्थ-वास्तविक सुख उन्हे कभी प्राप्त नही होता; जो पुरुष, उनके सुखको वास्तविक सुख समझते हैं और उस सुखकी वास्तविक सुखमे गणना करते है। मैं (ग्रन्थकार) समझता हूं उनकी यह भारी भूल है। वह सुख कभी वास्तविक सुख नही हो सकता ॥१८-१९॥

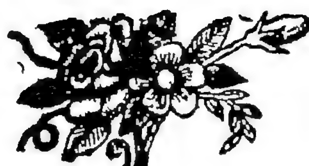
विमुच्य रागादि निजं तु निर्जने
पदे स्थितानां सुखमत्र योगिनां ।
विवेकिनां शुद्धचिदात्मचेतसां
विदां यथा स्यान्न हि कस्य चित्तथा ॥२०॥

इति मुमुक्षु भट्टारक श्री ज्ञानभूषण विरचितायां तत्वज्ञान-तरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपरुचये सुखस्वरूपप्रतिपादकः सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अर्थः—इसलिये जो योगिगण बाह्य अभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग कर निरुपद्रव एकान्त स्थानमे निवास करते है, विवेकी-हित अहितके जानकार हैं, शुद्धचिद्-रूपमें रत हैं और विद्वान हैं उन्हें ही यह निराकुलतामय

सुख प्राप्त होता है, उनसे अन्य किसी भी मनुष्यको नही ।। २० ।।

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा विरचित
तत्त्वज्ञान तरंगिणीमें "शुद्धचिद्रूपमें प्रेम बढ़े" इस
कारण वास्तविक सुखका प्रतिपादन करनेवाला
सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ।।१७।।



शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति के क्रमका प्रतिपादन करने वाला

अठारहवां अध्याय

श्रुत्वा श्रद्धाय वाचा ग्रहणमपि दृढं चेतसा यो विधाय
कृत्वांतः स्थैर्यबुद्धया परमनुभवनं तल्लयं यति योगी ।
तस्य स्यात्कर्मनाशस्तदनु शिवपदं च क्रमेणेति शुद्ध-
चिद्रूपोऽहं हि सौख्यं स्वभवमिह सदासन्न भवस्य नूनं ॥१॥

अर्थः—जो योगी "मैं शुद्धचिद्रूप हूँ" ऐसा भले प्रकार श्रवण और श्रद्धान कर, वचन और मनसे उसे ही दृढ़ रूपसे धारण कर, अतरंगको स्थिरकर और परपदार्थोंको जानकर उसका (शुद्धचिद्रूपका) अनुभव और उसमें अनुराग करता है वह आसन्न भव्य-बहुत जल्दी मोक्ष जानेवाला योगी क्रमसे समस्त कर्मोंका नाश कर अतिशय विशुद्ध मोक्षमार्ग और निराकुलतामय आत्मिक सुखका लाभ करता है !

भावार्थः—मैं शुद्धचिद्रूप हूँ ऐसा बिना श्रद्धान और ज्ञान किए शुद्धचिद्रूपमे अनुराग नही हो सकता, अनुरागके बिना उसका अनुभव, अनुभव न करनेसे कर्मोंका नाश, कर्मोंका नाश न होनेसे मोक्षकी प्राप्ति और मोक्षकी प्राप्ति न होनेसे शातिमय सुख कदापि नही मिल सकता ॥१॥

गृहिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं षट्कर्मपालने ।
व्रतांगीकरणे पश्चात्संयमग्रहणे ततः ॥२॥
यतिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं संयमपालने ।
चिद्रूपचिंतने पश्चादयमुक्तो बुधैः क्रमः ॥३॥

अर्थः—जो मनुष्य गृहस्थ हैं उन्हें पहिले स्वाध्याय, प्रतिक्रमण आदि छै आवश्यक कर्मोके पालनेकी, पश्चात् व्रतो के धारण करनेकी और फिर संयम ग्रहण करनेकी शिक्षा देनी चाहिये; परन्तु जो यति हैं–निर्ग्रन्थ रूप धारणकर बनवासी हो गए है, उन्हें सबसे पहिले सयम पालनेकी और पीछे शुद्धचिद्रूपके ध्यान करनेकी शिक्षा देनी चाहिये ॥२–३॥

ससारभीतितः पूर्वं रुचिर्मुक्तिसुखे दृढा ।
जायते यदि तत्प्राप्तेरुपायः सुगमोऽस्ति तत् ॥४॥

अर्थः—जिन मनुष्योकी संसारके भयसे पहिले ही मोक्षसुखकी प्राप्तिमे रुचि दृढ है—जल्दी संसारके दुःखोंसे मुक्त होना चाहते हैं। उन्हें समझ लेना चाहिए कि मुक्तिको प्राप्तिका सुगम उपाय मिल गया—वे बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

भावार्थः—जब तक मोक्ष पानेकी हृदयमे कामना नही होती–मोक्ष सुखके अनुभव करनेमे प्रेम नहीं होता, तबतक कदापि मोक्षकी प्राप्ति नही हो सकती और उसमे प्रेम करनेसे तो वह शीघ्र ही मिल जाता है तथा जिनकी रुचि ससार से भयभीत होनेके बाद मुक्ति सुखमे होती है यद्यपि वे भी मोक्ष जाते हैं, परन्तु जो ससारके भयसे पहिले ही मोक्ष सुखमे प्रेम करने वाले है वे सुगमतासे बहुत जल्दी मोक्ष चले जाते हैं। अधिक काल तक उन्हें ससारमे नही भटकना पड़ता ॥४॥

युगपज्जायते कर्ममोचनं तात्त्विकं सुखं ।
लयाच्च शुद्धचिद्रूपे निर्विकल्पस्य योगिनः ॥५॥

अर्थः—जो योगी निर्विकल्पक हैं, समस्त प्रकारकी आकुलताओंसे रहित हैं और शुद्धचिद्रूपमें लीन हैं उन्हें एक साथ समस्त कर्मोंका नाश और तात्त्विक सुख प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थः—शुद्धचिद्रूपमें लीनता होनेसे एक साथ समस्त कर्मोंका नाश और वास्तविक सुख प्राप्त होता है, इसलिए योगियोको चाहिए कि समस्त प्रकारके विकल्पोको छोड़कर शुद्धचिद्रूपमें ही अनुराग करे ॥५॥

अष्टावंगानि योगस्य यमो नियम आसनं ।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारो मनसि धारणा ॥६॥
ध्यानश्चैव समाधिश्च विज्ञायैतानि शास्त्रतः ।
सदैवाभ्यसनीयानि भदंतेन शिवार्थिना ॥७॥युग्मं॥

अर्थः—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग योगके है । इन्हीके द्वारा योगकी सिद्धि होती है, इसलिए जो मुनि मोक्षाभिलाषी हैं, समस्त कर्मोंसे अपनी आत्माको मुक्त करना चाहते हैं उन्हे चाहिए कि शास्त्रसे इनका यथार्थ स्वरूप जानकर सदा अभ्यास करते रहें ॥६–७॥

भावान्मुक्तो भवेच्छुद्धचिद्रूपोहमितिस्मृतेः ।
यद्यात्मा क्रमतो द्रव्यात्स कथं न विधीयते ॥८॥

अर्थः—यह आत्मा "मैं शुद्धचिद्रूप हूं" ऐसा स्मरण

करते ही जब भावमुक्त हो जाता है तब वह क्रमसे द्रव्यमुक्त तो अवश्य ही होगा ।

भावार्थ:—शुद्धचिद्रूपके अन्दर जब इतनी सामर्थ्य है कि वह स्मरण करने मात्रसे ही भाव ससारसे छुटाकर भाव मोक्ष प्राप्त करता है, तब वह परद्रव्य ससारका सबध तो इस आत्मासे अवश्य ही दूर कर देगा । शुद्धचिद्रूपके स्मरण करनेसे कभी भी द्रव्य और भाव संसारका सबध नही रह सकता ॥८॥

क्षणे क्षणे विमुच्येत शुद्धचिद्रूपचितया ।
तदन्यचितया नूनं बध्येतैव न सशयः ॥६॥

अर्थः—यदि शुद्धचिद्रूपका चितवन किया जायगा तो प्रतिक्षण कर्मोसे मुक्ति होती चली जायगी और यदि परपदार्थोका चितवन होगा तो प्रतिसमय कर्मबध होता रहेगा, इसमे कोई सदेह नही ॥६॥

सयोगक्षीणमिश्रेषु गुणस्थानेषु नो मृतिः ।
अन्यत्र मरणं प्रोक्तं शेषत्रि क्षपकैर्विना ॥१०॥

अर्थः—सयोगकेवली, क्षीण मोह, मिश्र और क्षपक-गुणस्थान आठवें, नवमे और दशवेमे मरण नही होता; परन्तु इनसे भिन्न गुणस्थानोमे मरण होता है ॥१०॥

मिथ्यात्वेऽविरते मृत्या जीवा यांति चतुर्गतीः ।
सासादने विना श्वभ्रं तिर्यगादिगतित्रयं ॥११॥

अर्थ.—जो जीव मिथ्यात्व और अविरत सम्यग्दृष्टि (जिसने सम्यक्त्व होनेसे पहिले आयुबंध कर लिया हो)

गुणस्थानोंमें मरते हैं। वे मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नरक चारों गतियोमे और सासादन गुणस्थानमे मरने वाले नरकगतिमे न जाकर शेष तिर्यञ्च आदि तीनों गतियोमे जाते हैं ॥११॥

अयोगे मरणं कृत्वा भव्या यांति शिवालय।
मृत्वा देवगतिं यांति शेषेषु सप्तसु ध्रुवं ॥१२॥

अर्थः—अयोग केवली चौदहवे-गुणस्थानसे मरने वाले जीव मोक्ष जाते हैं और शेष सात गुणस्थानोसे मरने वाले देव होते हैं ॥१२॥

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानं कृत्वा यांत्यधुना दिवं।
तत्रेंद्रियसुखं भुक्त्वा श्रुत्वा वाणीं जिनागतां ॥१३॥
जिनालयेषु सर्वेषु गत्वा कृत्वार्चनादिकं।
ततो लब्ध्वा नरत्वं च रत्नत्रय विभूषणं ॥१४॥
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानबलात्कृत्वा विधिक्षयं।
सिद्ध स्थानं परिप्राप्य त्रैलोक्यशिखरे क्षणात् ॥१५॥
साक्षाच्च शुद्धचिद्रूपा भूत्वात्यंतनिराकुलाः।
तिष्ठंत्यनंतकालं ते गुणाष्टक समन्विताः ॥१६॥

अर्थः—इस समय भी जो जीव शुद्धचिद्रूपके ध्यान करने वाले हैं वे मरकर स्वर्ग जाते हैं और वहां भले प्रकार इद्रियजन्य सुखोंको भोगकर, भगवान जिनेन्द्रके मुखसे जिनवाणी श्रवणकर, समस्त जिनमंदिरोंमे जा और उनकी पूजन आदि कर, मनुष्यभव, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रको प्राप्त-कर, शुद्धचिद्रूपके ध्यानसे समस्त कर्मोका क्षयकर सिद्धस्थान को प्राप्त होकर तीन लोकके शिखर पर जा विराजते है तथा

वहा पर साक्षात् शुद्धचिद्‌रूप होकर अत्यन्त निराकुल और केवलदर्शन, केवलज्ञान, अव्याबाधसुख आदि आठो गुणोसे भूषित हो अनतकालपर्यन्त निवास करते हैं ।।१३-१६।।

क्रमतः क्रमतो याति कीटिका शुकवत्फलं ।
नगस्थं स्वस्थितं ना च शुद्धचिद्‌रूपचितनं ।।१७।।

अर्थ—जिस प्रकार कीडी (चीटी) क्रम क्रमसे धीरे धीरे वृक्षके ऊपर चढकर शुकके समान फलका आस्वादन करती है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी क्रम क्रमसे शुद्धचिद्‌रूप का चितवन करता है ।

भावार्थः—जिसप्रकार कीडी एकदम तोतेके समान फलके पास जाकर उसका आस्वादन नही कर सकती, किन्तु पृथ्वीसे वृक्षके मूल भाग पर चढकर धीरे धीरे फलके पास पहुचती है और पीछे उसके रसका स्वाद लेती है, उसीप्रकार शुद्धचिद्‌रूपका चितवन भी कोई मनुष्य एक साथ नही कर सकता, किन्तु क्रम क्रमसे परद्रव्योसे अपनी ममता दूर करता हुआ उसका चितवन कर सकता है ।।१७।।

गुर्वादीनां च वाक्यानि श्रुत्वा शास्त्राण्यनेकशः ।
कृत्वाभ्यासं यदा याति तद्धि ध्यानं क्रमागतं ।।१८।।
जिनेशागमनिर्यासमात्रं श्रुत्वा गुरोर्वचः ।
विनाभ्यासं यदा याति तद्‌ध्यानं चाक्रमागतं ।।१९।।

अर्थः—जो पुरुष–गुरु आदिके वचनोको भले प्रकार श्रवणकर और शास्त्रोका भले प्रकार अभ्यासकर शुद्धचिद्‌रूप का चितवन करता है, उसके क्रमसे शुद्धचिद्‌रूपका चितवन-

ध्यान कहा जाता है; किन्तु जो पुरुष भगवान जिनेन्द्रके शास्त्रोंके तात्पर्य मात्रको बतलाने वाले गुरुके वचनोंको श्रवण कर अभ्यास नही करता, बारबार शास्त्रोका मनन चिंतवन नही करता, उसके जो शुद्धचिद्रूपका ध्यान होता है वह क्रमसे नही होता ।।१८–१९।।

न लाभमानकीर्त्यर्था कृता कृतिरियं मया ।
किंतु मे शुद्धचिद्रूपे प्रीतिः सैवात्र कारणं ।।२०।।

अर्थः—अन्तमे ग्रन्थकार ग्रन्थके निर्माणका कारण बतलाते हैं कि यह जो मैंने ग्रन्थ बनाया है वह किसी प्रकार के लाभ, मान या कीर्ति की इच्छासे नही बनाया; परन्तु शुद्धचिद्रूपमे मेरा गाढ प्रेम है इसी कारण इसका निर्माण किया है ।।२०।।

जातः श्रीसकलादिकीर्तिमुनिपः श्रीमूलसंघेग्रणी–
स्तत्पट्टोदयपर्वते रविरभूद्भव्यांबुजानंदकृत् ।
विख्यातो भुवनादिकीर्तिरथ यस्तत्पादकंजे रतः
तत्त्वज्ञानतरंगिणीं स कृतवानेतां हि चिद्भूषणः ।।२१।।

अर्थः—मूल सघके आचार्योमें अग्रणी–सर्वोत्तम विद्वान आचार्य सकलकीर्ति हुये । उनके पट्टरूपी उदयाचल पर सूर्यके समान भव्यरूपी कमलोको आनद प्रदान करने वाले प्रसिद्ध भट्टारक भुवनकीर्ति हुये । उन्हीके चरण कमलोका भक्त मैं ज्ञानभूषण भट्टारक हूँ जिसने कि इस तत्त्वज्ञान तरंगिणी ग्रन्थका निर्माण किया है ।।२१।।

क्रीडंति ये प्रविश्येमां तत्त्वज्ञानतरंगिणीं ।
ते स्वर्गादिसुख प्राप्य सिद्ध्यंति तदनंतरं । २२।।

अर्थः—जो महानुभाव इस तत्त्वज्ञानतरगिणी (तत्त्व-

ज्ञान रूपी नदी) में प्रवेशकर क्रीड़ा-(अवगाहन) करेंगे वे स्वर्ग आदिके सुखोको भोगकर मोक्ष सुखको प्राप्त होगे। स्वर्ग सुखके भोगनेके बाद उन्हें अवश्य मोक्ष सुखकी प्राप्ति होगी ॥२२॥

यदैव विक्रमातीताः शतपंचदशाधिकाः ।
षष्टिः संवत्सरा जातास्तदेयं निर्मिता कृतिः ॥२३॥

अर्थः—जिस समय विक्रम संवत्के पन्द्रहसौ साठ वर्ष (शक संवत्के चौदह सौ पच्चीस अथवा ख्रीष्ट सवत्के पन्द्रहसौ तीन वर्ष) बीत चुके थे, उस समय इस तत्त्वज्ञान तरंगिणी रूपी कृतिका निर्माण किया गया ॥२३॥

ग्रन्थसंख्यात्र विज्ञेया लेखकैः पाठकैः किल ।
षट्त्रिंशदधिका पंचशती श्रोतृजनैरपि ॥२४॥

इति मुमुक्षु भट्टारक श्री ज्ञानभूषणविरचितायां तत्त्वज्ञानतरंगिण्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्ति क्रम प्रतिपादकोऽष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

अर्थः—इस ग्रन्थकी सब श्लोक सख्या पांच सौ छत्तीस है, ऐसा लेखक, पाठक और श्रोताओंको समझ लेना चाहिये अर्थात् यह ग्रन्थ पांच सौ छत्तीस श्लोकोमे समाप्त हुआ है ॥२४॥

इसप्रकार मोक्षाभिलाषी भट्टारक ज्ञानभूषण द्वारा विरचित तत्त्वज्ञान तरंगिणीमें शुद्धचिद्रूपकी प्राप्तिके क्रमका प्रतिपादन करने वाला अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१८॥

इति श्री तत्त्वज्ञानतरंगिणी

❀ सम्पूर्णम् ❀

परमात्म भावना

इस "तत्वज्ञान तरंगिणी" को पढ़कर भव्यजीवों को ऐसा विचार करना चाहिये, कि मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंद-स्वभाव निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ, निजानंद निरंजन शुद्धात्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रय-मयी निर्विकल्पसमाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानंदरूप आनंदानुभूतिमात्र जो स्वसंवेदनज्ञान उससे गम्य हूँ, अन्य उपायों से गम्य नहीं हूँ। निर्विकल्प निजानंद ज्ञानकर ही मेरी प्राप्ति है, पूर्ण हूँ। राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पाँचों इन्द्रियों के विषय व्यापार, मन, वचन, काय, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, ख्याति, पूजा, लाभ, देखे सुने और अनुभवे भोगों की वांछारूप निदानबंध, माया, मिथ्या ये तीन शल्यें इत्यादि विभाव परिणामों से रहित सब प्रपंचों से रहित मैं हूँ। तीन लोक, तीन काल में, मन, वचन, कायकर, कृत, कारित अनुमोदना कर, शुद्ध निश्चय से मै आत्माराम ऐसा हूँ। तथा सभी जीव ऐसे हैं। ऐसी सदैव भावना करनी चाहिये।

इति निरन्तरं परमात्म भावना कर्तव्येति।



(नोट—कृपया स्वाध्याय प्रारम्भ करने से पूर्व निम्नलिखित अशुद्धिया अवश्य ठीक कर लें)

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	६	समयमह तत्स्वरूप	समयमह् तत्स्वरूप
६	१२	भूतामिद्रियार्थागसा	भूतामिन्द्रियार्थागसा
७	१४	नान्योस्मि	नान्योऽस्मि
८	१०	सूक्ष्मैर जीवैरसुनिकर युतै.	सूक्ष्मै रजीवैर-सुनिक रयुतै
१०	१९	सूक्ष्मो	सूक्ष्मा
१०	२०	चिद्रूपोय	चिद्रूपोऽय
११	११	क्षीरकी ज्यो	क्षीरके समान
११	१८	न च	च न
११	२०	मयाहो	मयाऽहो
११	२१	मथन	मंथन
१२	१५	शुद्धश्चिद्रूपोहमिति	शुद्धश्चिद्रूपोऽहमिति
१४	१	ध्यानका	ध्यान मे
१५	५	नृणामशुभता	नृणामशुभतर
१६	१	सयोगायोगदश	सयोगायोगदशि
१७	१	स कोपि	स कोऽपि
१७	२	तदशोपि	तदशोऽपि
१७	१३	ससार भीनाशन	ससारभयनाशनं
१७	१४	चिद्रूपोहमिति	चिद्रूपोऽहमिति
१८	१४	उत्तमगुण	उत्तरगुण
१९	२	चिद्रूपोहं	चिद्रूपोऽह
१९	३	हे मतिमन्	हे मतिमान्
१९	१३	शुद्धचिद्रूपकोह	शुद्धचिद्रूपकोऽह
१९	२४	तीर्थंकरो	तीर्थंकरो
१९	२४	सुरेंद्रो	सुरेन्द्रो
२१	१९	देखते;	देखते हैं,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१	२४	होता;	होता है,
२२	१४	अनन्त वर्गणाओंका	अनन्त कर्मवर्गणाओंका
२२	१६	शुद्ध	शुद्ध
२५	१	गुणोस्ति	गुणोऽस्ति
२५	१४	चिद्रूपोह	चिद्रूपोऽहं
२६	२	चिद्रक्तचेतसा	चिदुक्तचेतसां
२६	२२	ज्ञानिनोपि	ज्ञानिनोऽपि
२६	२३	तेपि	तेऽपि
२८	४	क्रमाच्चिद्रूप्राप्ति	क्रमाच्चिद्रूप प्राप्ति
३०	१७	ध्यानपर्वत भजने	ध्यान पर्वत भजने
३२	१७	तव	तक
३२	२१	सद्ध्यान	सद्ध्यान
३४	७	चक्रीद्रयो:	चक्रीन्द्रयो:
३४	६	सर्वोत्तमेद्रिय	सर्वोत्तमेन्द्रिय
३५	५	तथेंद्रिय	तथेन्द्रिय
३५	२२	प्राप्ति चिंता	प्राप्तिचिंता
३५	२५	लब्धि	लब्धि:
३८	१०	विंदेत्पर	विन्देत्पर
३८	१५	जाय	जाये
४१	७	देशातर मे	न देशातर मे
४१	७	और दूसरे से	और न दूसरे से
४३	१५	इंद्रियोके	इन्द्रियोके
४३	१६	अखण्य	अखण्ड
५०	१५	जायतेत्यंत।	जायतेऽत्यत:
५५	११	एकेंद्रियादि	एकेन्द्रियादि
५५	१३	एकेंद्रिय, दोइंद्रिय,	एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय,
५६	११	वृंदेरापूरितो भृश	वृन्दैरापूरितोभृश
६१	८	शुद्धात्मदृग्भीरहितमपि	शुद्धात्मदृग्भी रहितमपि
६२	१५	पापमान	पापमान
६३	४	ल्लोकेस्मिन्	ल्लोकेऽस्मिन्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१११	२३	क्रीडतोऽत्र	क्रीडंतोऽत्र
११२	११	दृश्यते	दृश्यन्ते
११२	२०	बलस	बलसे
११२	२२	प्रकुर्वंति	प्रकुर्वन्ति
११४	९	नरलोकेपि	नरलोकेऽपि
११६	१०	व्रतिनोपि	व्रतिनोऽपि
११७	४	पित्रविकासु	पित्रविकासु
११७	७	प्रेषणादौयशसि	प्रेषणादौ यशसि
१२६	२१	निश्चयात्त्कर्मनाशकृत्	निश्चयात् तत्कर्मनाशकृत
१३२	११	चिद्रूपध्यानरत्न	चिद्रूपध्यानरत्न
१४४	१५	वद्धते	वर्द्धन्ते
१४५	१५	संग	संग
१४६	२	जायगा	जायेगा
१४६	४	वृत	व्रत
१४९	१०	क्षणार्द्धं	क्षणार्द्धमं
१५०	१	जनक	जनक
१५०	१८	पुस्तक	पुस्तके
१५२	११	भजिनैर्भोजनैश्च	भंजिनैर्भोजनैश्च
१५३	३	गृहवसनरथा	गृहवसनरथाः
१५७	४	स्वर्णैरत्नै.	स्वर्णैःरत्नै.
१५७	७	कोपि	कोऽपि
१६६	१७	कुर्यु	कुर्युः
१६७	७	शुद्धचिद्रताः	शुद्धचिद्रूपताः
१७१	२	श्रार	श्रोर
१७१	४	निर्द्वंद	निर्द्वन्द
१७५	१५	कमबधोऽसुख	कर्मबधोऽसुख
१७९	१०	रागादि	रागादि
१८२	९	सुगमोस्ति	सुगमोऽस्ति
१८३	११	नियम	नियम
१८३	२१	चिद्रूपोह	चिद्रूपोऽह

☸

तत्त्वज्ञान तरंगिणी के प्रकाशन हेतु

सहायता राशि

५०००)	श्री शाह ट्रेडिंग कारपोरेशन (हस्ते रमेशभाई एव नरेन्द्रकुमार)	जलगाव
३०००)	श्रीमती पन्नादेवी ध० प० मांगीलालजी जैन	आगरा
१७०१)	श्रीमती सेवाबाई ध० प० ईश्वरचन्दजी जैन (हस्ते—चिन्तामण-भाई नवीनचन्द)	खडवा
२५१)	श्रीमती उमरावबाई ध० प० स्व० हुकमचन्दजी जैन (हस्ते शातिभाई सर्राफ)	खडवा
२०४)	श्री कातीलालजी मेहता	खडवा
२०२)	श्रीमती कुसुमलता ध० प० मोतीलालजी जैन	खडवा
२०१)	श्री ओमप्रकाश भाई चादमलजी जैन	खंडवा
२०१)	श्री गुणमालाबाई ध० प० स्व० केशरीचन्दजी	खडवा
२०१)	श्रीमती सीताबाई ध० प० लक्ष्मीनारायणजी रांवका	खडवा
२०१)	श्रीमती नलिनीदेवी ध० प० सतीशचन्द जैन	सनावद
२०१)	श्रीमती विमलाताई दीपचन्दजी गाधी	उस्मानाबाद
१५२)	श्री डॉ इन्द्रकुमार धरमचन्दजी जैन	खडवा
१५१)	मातेश्वरी स्व लक्ष्मीबाई ध० प० माधवसाजी अतरवालो के स्मरणार्थ (हस्ते-पुत्र केशरीचन्दजी जैन)	खडवा
१४०)१०	श्री जैन स्नेह सम्मेलन समिति सन् १९७७ (हस्ते श्री ओमप्रकाशजी जैन)	खडवा
१०१)	श्रीमती मगलाबाई ध० प० शोभागमलजी जैन अतरवाले	खडवा

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र

जयपुर

५१) श्रीमती गुमितारानी ध० प० मोहनलालजी जैन खंडवा
५१) श्रीमती स्वर्णप्रभा ध० प० नवीनचन्दजी जैन मण्डलेश्वर
५१) श्रीमती हेमलता ध० प० प्रमोदकुमारजी जैन इन्दौर
५१) श्रीमती उर्मिलाबाई ध० प० जिनेन्द्रचन्दजी जैन खंडवा
५१) श्री चादुलालजी मनोकचन्दजी जैन बीड
५१) श्री केसरबाई ध.प स्व. मूलचन्दजी जैन (मण्डलेश्वर वाले) खंडवा
५१) श्रीमती मालतीबाई ध० प० निर्मलचन्दजी जैन खंडवा
५१) श्रीमती प्रभाबाई ध० प० सुरेन्द्रकुमारजी जैन खंडवा
पधाना वाले
५१) श्रीमती सुगन्धीबाई ध० प० गेंदालालसाजी जैन खंडवा
अतरवाले
५१) श्रीमती धनकुंवरबाई ध० प० स्व० नवलचन्दसाजी जैन खंडवा
३१) श्री चिद्रूपकुमार अशोककुमारजी जैन खंडवा
२५) श्री भगवानदासजी जैन ऊन
२५) श्रीमती मनोरमाबाई रांवका खंडवा
२५) श्रीमती सजनबाई ध० प० विरेन्द्रकुमारजी जैन खंडवा
साटकूट वाले
२५) श्री फूलीबाई ध० प० मोरेलालजी जैन खंडवा
२५) श्री जीयालालजी जैन ठेकेदार भोपाल
२५) श्रीमती शिरोमणी ध० प० धर्मचन्दजी जैन खंडवा
२५) श्रीमती सरोजबाई ध० प० मूलचन्दजी तोषी खंडवा
२५) श्रीमती फूलाबाई ध० प० प० श्रीरामजी बाकलीवाल खंडवा
२५) श्रीमती विमलाबाई ध० प० विमलकुमारजी लुहाड़िया बानापुरा

१४७९६)१०
८७)५०

१४८८३)६०